संत तुकाराम

हरि रामचंद्र दिवेकर

इलाहाबाद
हिंदुस्तानी एकेडेमी, यू॰ पी॰
१९३७

प्रकाशक
हिंदुस्तानी एकेडेमी, यू० पी०
इलाहाबाद

मूल्य	कपड़े की जिल्द	२)
	साधारण जिल्द	१।।)

मुद्रक—रामनरेश त्रिपाठी, हिंदी-मंदिर प्रेस, इलाहाबाद

उपोद्घात

दुनिया दिन ब-दिन बदलती ही नहीं, छोटी भी होती जाती है। अज्ञात देश तो क्या अज्ञात विषय भी हर रोज कम हो रहे हैं। एक समय वह था कि 'न वदेद्यावनीं भाषां न गच्छेज्जैनमंदिरम्' प्रकार के आदेश दिए जाते थे। अब ऐसा समय आ गया है कि—

चाहे जहाँ जाओ, करो चाहे तुम्हारा दिल वही।
ज्ञान को, संपत्ति को, आरोग्य को लाओ सही॥

इस अवस्था में हर एक भाषा का ज्ञान प्राप्त करना, हर देश में विचरण करना और उस भाषा तथा देश की संपत्ति को अपने घर ले आना पुरुषार्थ समझा जाता है। अपनी-अपनी भाषा के साथ अंग्रेज़ी तथा राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी का, तथा अपनी प्रांतीय संस्कृति के साथ पौर्वात्य राष्ट्रीय तथा पाश्चात्य विजातीय संस्कृति का ज्ञान आवश्यक हो रहा है। ज्ञान-प्राप्ति के साधन जो ग्रंथ माने जाते हैं उन में महापुरुषों के जीवन-वृत्तांत का स्थान ऊँचा है—वे महापुरुष संत हों या शूर, ग़रीब या अमीर। इस नाते से हिंदुस्तानी लोगों को महात्माओं के जीवन का ज्ञान होना आवश्यक है। इस छोटी-सी पुस्तिका में एक ऐसे ही महाराष्ट्रीय संत का जीवन-चरित्र दिया हुआ है।

सुख के दिनों में हम दूसरों को तथा परमेश्वर को भूल जाते हैं। परंतु जब दुःख आ पड़ता है, आपत्तियों के आघातों से हम ठुकराए जाते हैं, उसी समय हम सब को एक दूसरे की याद आती है, और उसी समय ईश्वर सूझने लगता है। परकीय साम्राज्य के अंतर्गत हिंदुस्तान में जिस एकता की आशा की जा रही है, वह कदापि न की जाती, यदि भारत अपनी प्राचीन पद्धति से ही स्वतंत्र तथा स्वयंशासित रहता। एक ही भाड़ में भुने हुए भिन्न-भिन्न भाँति के दाने जब एक ही चक्की के पाटों में पीसे जाते हैं, तो वे अपना भेद-

भाव छोड़ कर ऐसे एक जीव होते हैं कि उन मे अपना-अपना स्वाद रहते भी एक नया स्वाद आ जाता है। भारत के इतिहास मे ऐसे समय आए हैं, जब भारतीय परकीयो के वश हो कर गुलामी मे गड़ गए थे। उन दिनो उन्हे केवल एक परमेश्वर का ही सहारा था। उसी के आधार से तत्कालीन महात्माओ ने फिर से देश मे नया चैतन्य डाल कर पुनरुत्थान कर दिखाया। आज का समय भी वैसा ही है और इसी लिए ऐसे सब महात्माओं के चरित्र हमें अधिक स्फूर्ति दे सकते हैं तथा उचित मार्ग दिखला सकते हैं।

श्रीशंकराचार्य, ज्ञानेश्वर, जयदेव, कबीर, नानक, नरसी मेहता इत्यादि महात्मा लोग इसी श्रेणी के हैं। भगवद्भक्त तुकाराम, जिन की जीवनी इस पुस्तक मे लिखी है इसी कोटि के पुरुष थे। इन सब महात्माओं के जीवन भिन्न प्रकार के होते हुए भी एक ही प्रकार के थे। प्रातीय परिस्थिति के कारण इन के प्रयत्न यद्यपि अलग-अलग दीख पड़ते हैं तथापि इन सबो के जीवन मे एक सूत्र साधारण-सा जान पड़ता है। वह है जनता की सेवा करते हुए उन्हे जगाना, और जगाते हुए भी जनता को इस का परिचय न कराना कि 'मैं तुम्हे जगा रहा हूँ'। दीपक का काम अपने को जला कर अपने स्नेह की आहुति परोपकारार्थ देने का है। वह बेचारा यह नही विचार करता कि 'मेरा प्रकाश कितना पड़ेगा, और किस-किस कोने का अँधेरा उस से दूर होगा'। न वह ऐसी डींग मारता है कि 'देखो, मैं अँधेरा दूर करनेवाला हूँ, मेरी ही शरण लो तो अँधेरे से बचोगे, अन्यथा नही। खुद को जलाते ही उस ज्योति से जो चमक निकलती है, वही लोगों को उस का दिव्य जीवन दिखला देती है। ठीक इसी तरह महात्माओं के जीवन रहते हैं। उन के विशुद्ध आचरण को देख कर लोग स्वय ही अपने को सुधारते हैं और अज्ञान-पथ को छोड़ सन्मार्ग से चलने लगते है। आज के दाभिक दिनो मे इस बात का ज्ञान परमावश्यक है कि हमें जो कुछ करना हो, वह हम शाति-पूर्वक दूसरो को न दुखाते हुए करे। यदि तुकाराम की जीवनी को पढ़ कर हम भारत-निवासी इस बात को भलीभाँति समझ ले, तो इस पुस्तक के लिखने का तथा प्रकाशित करने का हेतु कुछ तो सफल अवश्य ही हो जावेगा।

इस पुस्तक के लिखने का काम सन् १६३१ में ही हुआ था। परतु कई कारणो से इस का प्रकाशन आज तक न हो सका। आज १६३७ मे, छः वर्ष की दीर्घ गर्भावस्था को त्याग यह पुस्तक हिंदुस्तानी एकेडेमी से प्रकाशित हो रही है। आशा है कि हिंदुस्तानी के अभिमानी तथा हित-चितक इस पुस्तक को पढ कर लेखक तथा प्रकाशको को उत्साहित करेंगे और उन को इसी प्रकार की अधिक सेवा करने का अवसर देगे। उपोद्घात-रूप में इस से अधिक लिखना आवश्यक नहीं।

विनीत लेखक—

हरि रामचंद्र दिवेकर

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

महाराष्ट्र भक्तिधर्म

ज्ञानराज ने ज्ञानबल डाली जो बुनियाद।
नामदेव ने नामवश रचो भव्य प्रासाद ॥
एकनाथ ने एकता रंग दिया चहुँ ओर।
उसी भक्तिपर धर्म का तुकाराम सिरमोर ॥

भक्ति की कल्पना बड़ी प्राचीन है। तन, मन, धन सब का अहंकार छोड़ पूर्णतया परमेश्वर की शरण में जाना यही इस का मुख्य मर्म है। कुछ वैदिक सूक्तों में—विशेषतः वसिष्ठ-कृत वरुणसूक्तों में इस की झलक भलीभाँति दिखाई देती है। उपनिषदों में तो यह कल्पना मूर्तस्वरूप पा कर 'भक्ति' इस नाम से भी ज्ञात है। गीता में ज्ञान और कर्म के साथ यह एक भगवत्प्राप्ति का तीसरा मार्ग ही माना गया है। किसी अर्वाचीन धर्म या धार्मिक पथ को भी देखिए, उस में भी किसी न किसी स्वरूप में भक्ति का दर्शन आप अवश्य पावेंगे।

इस का कारण बिल्कुल साफ है। प्रेम की कल्पना प्राणिमात्र के हृदय में जन्म से ही पाई जाती है। माता प्रेम का आदर्श-स्वरूप है। इस माता से भी बढ़ कर परमेश्वर प्रेममय है। एक बार यह कल्पना कर लेने के बाद फिर ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता कि उस परमेश्वर के पास पहुँचने के लिए मनुष्य को कुछ विशिष्ट प्रकार का ज्ञान होना चाहिए या कुछ विशिष्ट कर्मों का उसे आचरण करना चाहिए। यदि ज्ञान और कर्म यही केवल परमेश्वर प्राप्ति के दो मार्ग माने जावें, तो उन बेचारे जीवों को, जिन में

न तो ज्ञान की सूक्ष्म बातें समझने योग्य बुद्धि है या न तो कर्म करने योग्य सामर्थ्य है, कुछ सहारा ही न रहेगा। भक्ति-मार्ग के लिए न तो कर्म की आवश्यकता है, न ज्ञान की। यहाँ तो केवल अनन्य भाव की अपेक्षा है। "मैं तो किसी चीज के लायक नहीं हूँ, जन्म-भर मैं ने बुरे ही बुरे काम किए हैं, पतितों से भी मैं पतित हूँ," इतनी आत्मविषयक नीची कल्पना रहते हुए भी "परमेश्वर सत्यस्वरूप है, वह दयामय है, वह मेरा त्याग कदापि नहीं करेगा, वही मेरा बेडा पार लगावेगा, वही मेरे सब संकटों को हरण करेगा, वही मेरा उद्धार करेगा" यह श्रद्धा मन में उत्पन्न होना और उसी पर सब प्रकार से निर्भर रहना, भक्ति का अनन्य लक्षण है। इस दुःखमय संसार के कटकमय पथ पर चलते-चलते जब जीव ऊब जाता है, अच्छा काम करते हुए भी जब उसे बुरा ही फल मिलता रहता है, किसी का भी उसे सहारा नहीं रहता, अहकार पूरा-पूरा नष्ट हो जाता है, तब इस भक्ति-कल्पना के सिवाय उसे दूसरा कुछ सहारा नहीं रहता। उस समय इसी कल्पना से उसे विश्राम मिलता है और समाधान प्राप्त होता है। और यही कारण है कि केवल हर एक धर्म में ही नहीं, किंतु हर एक मनुष्य के जीवन में भी एक समय ऐसा आता है कि उस के मन में यह भक्तिकल्पना अवश्य उद्भूत होती है। खास कर अन्य मार्गों के अनुयायी जब अपने ही आचारों का दूसरों पर अत्याचारयुक्त आक्रमण करते हैं, तब इस मार्ग से जानेवाले लोगों मे एक प्रकार की आत्मिक सामर्थ्य पैदा होती है और भक्ति-मार्ग का नए नए स्वरूप में उत्थान होता है।

इसी प्रकार का एक उत्थान ईसा की ग्यारहवीं सदी मे महाराष्ट्र देश में हुआ। उस समय सब उत्तरी भारत ग़ज़नी के सुलतान महमूद के हमलों से परेशान था। हिंदुओं के पवित्र स्थानो पर आक्रमण होता था, देवालय तोडे जाते थे, मूर्तियाँ फोड़ी जाती थीं और वहाँ की सपत्ति लुटी जाती थी। इस प्रकार से हिंदूधर्म के केवल बहिरग पर ही महमदी धर्म का आक्रमण न होता था, किंतु उस के अतरग पर भी आघात होने लगे थे। सत्ताधीश धर्म-प्रसारक मुसलमान सुलतानों की अपेक्षा अपने धर्म की महत्ता दिखलानेवाले और अपनी कृतियों से लोगों के मन पर प्रभाव डालनेवाले मुसलमान फकीरों के उपदेश से हिदूधर्म के विचारो में एक प्रकार की हलचल मच गई थी। परमेश्वर का स्वरूप एक ही है और उस के पैदा किए हुए सब इन्सान एक से हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि जाति-भेद मनुष्य-कृत और अतएव स्वार्थमूलक हैं, इत्यादि कल्पनाएँ लोगों के मन में दृढ़ मूल होने लगी थी और इस प्रकार से हिंदूधर्म के कुछ मूलभूत तत्वों पर ही चोटें पहुँचने लगी थीं। इन्ही कारणों से भक्तिमार्ग का भारत भर में और विशेषतः महाराष्ट्र देश में बड़े जोर से उत्थान हुआ।

इस नए उत्थान के लिए अन्य प्रांतो की अपेक्षा महाराष्ट्र का क्षेत्र कई दृष्टियों से अधिक योग्य था। मुसलमान वीरो का आक्रमण उस समय केवल विंध्याद्रि के उत्तर में ही था। इस लिए उत्तरी भारत से भागे हुए लोग विंध्याद्रि को पार कर दक्षिण के हिंदू राजाओं का आश्रय लेते थे। दक्षिण और उत्तर हिंदुस्तान के बीच में होने से महाराष्ट्र देश में दोनों विभागों की अधिकताएँ नहीं थीं। इस लिए प्रायः सभी प्रकार के लोग यहाँ मिल-

जुल कर रहते थे। मुसलमानी फकीरों की भी आमद-रफ्त शुरू हो गई थी। भक्तिमार्ग का जो मुख्य स्थान उत्तरी भारत में समझा जाता था, उस मथुरा नगर पर भी महमूद का आक्रमण हो चुका था। हिंदू लोगों ने यह बात समझ ली थी कि उन के देवताओं में शत्रुओं का निवारण करने की सामर्थ्य नहीं है। और इसी कारण से हिंदूधर्म के भिन्न-भिन्न पथों का संगठन करने के प्रयत्न भी होने लगे थे। बौद्धों के भगवान् बुद्ध को लोग श्रीकृष्ण का नया नवाँ अवतार समझने लगे थे। राक्षस तथा असुरों को अपने हाथों में आयुध धारण कर मारनेवाले देवताओं की मूर्त्तियों का भी रूपातर धीरे-धीरे बुद्ध-समान निष्क्रिय हस्तों की देवता-मूर्तियों मे हो रहा था। ऐसी सक्रमणावस्था में महाराष्ट्र की दक्षिण सीमा पर एक नया ही भक्ति-स्थान, एक नए ही देव के नाम से स्थापित हुआ। इस स्थान ने आज लगभग हजार वर्ष तक महाराष्ट्र के भावुक लोगों को आकर्षित किया है। भिन्न-भिन्न जाति के भक्त अपनी-अपनी जाति का अभिमान छोड़, केवल भगवत्प्रेम मे मगन हो कर यहाँ नाचे हैं, नाचते हैं, और नाचते रहेंगे। बहुत क्या, पुराणों में वर्णित वैकुंठ को स्वर्ग से इन भगवद्भक्तों ने धरातल पर इसी स्थान के रूप में खींच लिया।

इस स्थान का नाम पढरी या पढरपुर, और जिस देवता का यहाँ जय-जयकार हुआ, उस देवता का नाम विट्ठल। यह सस्कृत शब्द नहीं है। इसी से इस देवता का नावीन्य प्रतीत होता है। विठ्ठल शब्द का अर्थ है 'ईंट पर खड़ा'। इस नाम के पड़ने का कारण यों बताया जाता है। पुडलीक या पुडरीक नाम का एक बड़ा मातृ पितृ-भक्त ब्राह्मण भीमा नदी के तीर पर रहता था। उस की इस मातृ-पितृ-भक्ति से प्रसन्न हो कर भगवान् श्रीकृष्ण मथुरा से उस के यहाँ अपना दर्शन देने के लिए पधारे। पर पुंडलीक को इस की परवाह क्या? वह अपने माता-पिता की सेवा करने में ही आसक्त था। जब उस से कहा गया कि 'भगवान् तुझे दर्शन देने आए है', तब उस ने पास पड़ी हुई एक ईंट उठाई और भगवान् की ओर फेंक कर कहा—'महाराज, कृपा कर इस ईंट पर विश्राम कीजिए। मैं माता-पिता की सेवा कर रहा हूँ। यह खतम होते ही आप का पूजन और सत्कार करूँगा।' उस की इस मातृ-पितृ-भक्ति से तथा शुद्ध भाव से आश्चर्य-चकित हो, भगवान् श्रीकृष्ण अपने दोनों पैर जोड़ कर ईंट पर खड़े हुए और कमर पर दोनों हाथ धर उस की ओर ताकते रहे। विठ्ठल नाम का यही कारण है, और यही 'खड़ा ईंट पर हाथ कमर पर' विठ्ठल-मूर्त्ति का स्वरूप है। पुडरीक की भक्ति से इस प्रकार विठ्ठल का नया अवतार हुआ। इस स्थान पर भीमा नदी का प्रवाह चद्रमा की कोर-सा कमानदार होने के कारण उस का नाम चद्रभागा पड़ा और उस स्थान पर जो गाँव बसा, उसे लोग पुडरीकपुर कहने लगे। पंढरपुर या पंढरी इस पुंडरीकपुर का प्राकृत रूप है।

बहुत ही थोड़े दिनों में इस स्थान की कीर्त्ति दूर-दूर तक फैलने लगी। विठ्ठल-दर्शन के लिए लोग प्रति एकादशी को एकत्र होने लगे। कधे पर पताका, हाथ में झाँझ और मुख से विठ्ठल-विठ्ठल यह नामघोष, इस प्रकार खास कर असाढ़ और कार्तिक सुदी एकादशी के दिन दूर-दूर से भक्त लोग आने लगे। इस प्रकार विठ्ठल-दर्शन के लिए पंढरपुर आना 'वारी' के।नाम से प्रसिद्ध हुआ और इन 'वारकरी' अर्थात् वारी करनेवाले

लोगों का एक अलग ही पथ बन गया।

इस विट्ठल-भक्ति के सम्प्रदाय को श्रीज्ञानेश्वर महाराज के कारण बड़ा महत्त्व प्राप्त हुआ। श्रीज्ञानेश्वर महाराज एक बडे भारी विद्वान् साधु-पुरुष थे। इन के गुरु इन के ही बड़े भाई निवृत्तिनाथ थे। यद्यपि निवृत्तिनाथ को गाहनीनाथ के द्वारा नाथ-सम्प्रदाय की दीक्षा प्राप्त हुई थी, तथापि नाथपथी योग की अपेक्षा ज्ञानेश्वर ने भगवद्भक्ति का ही अधिक विस्तार किया। आप ने पद्रह वर्ष की अवस्था में श्रीमद्भगवद्गीता पर एक बड़ी विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण भावबोधिनी नामक मराठी टीका लिख डाली। ज्ञानेश्वरी नाम से यही टीका बड़ी प्रसिद्ध है। मराठी भाषा के सर्वमान्य आद्यग्रथ का मान इसी ग्रथ को है और वारकरी-पंथ का तो यह मुख्य ग्रथ ही माना गया है। इस ग्रथ में भगवद्भक्ति को योग या ज्ञान से अधिक महत्व का बतलाया गया है। कर्म की तो इस मे अच्छी ही भगल उड़ाई है, और उसी के साथ-साथ कर्मठ ब्राह्मणों की। इस का एक कारण यह था कि श्रीज्ञानेश्वरजी को कर्मठ ब्राह्मणों द्वारा बड़ी तकलीफ उठानी पड़ी थी। ज्ञानेश्वर के पिता विठ्ठल पत अपनी तरुण अवस्था में सतति उत्पन्न करने के पहले ही अपनी पत्नी का त्याग कर संन्यास-दीक्षा ले चुके थे। पश्चात् अपने गुरु की आज्ञानुसार उन्हों ने फिर से गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। इस द्वितीय प्रवेश के बाद उन्हे निवृत्ति, ज्ञानेश्वर और सोपान नाम के तीन पुत्र और मुक्ताबाई नाम की कन्या हुई। इस रीति से सन्यासी के पुत्र होने के कारण ये चारों जाति-बहिष्कृत थे। इसी अपमान के कारण श्रीज्ञानेश्वर जी का चित्त भक्ति-मार्ग की ओर झुका। उन्हों ने अपनी समर्थ-वाणी से प्रतिपादन किया कि ईश्वर-प्राप्ति के लिए ब्राह्मणों की आवश्यकता नहीं है, हर एक मनुष्य को ईश्वर की उपासना करने का एक-सा हक़ है, और सप्रेम चित्त से यदि ईश्वर-भक्ति की जावे, तो बिना ब्राह्मणों की सिफ़ारिश के किसी भी मनुष्य को मुक्ति मिल सकती है। श्रीज्ञानेश्वर केवल इक्कीस वर्ष की अवस्था में ही समाधिस्थ हुए। इन का समाधि-काल ई० १२९६ है। इन की समाधि आकंदी नामक गाँव में है।

भक्तिपथ का माहात्म्य बढ़ाने मे जिस प्रकार श्रीज्ञानेश्वर जी की ग्रंथ-रचना का साहाय्य हुआ, उसी प्रकार इस पंथ की लोकप्रियता बढ़ाने का मान नामदेव जी को मिला। नामदेव जी के पिता दामाशेटी जाति के दर्जी थे। इन्हें बहुत दिन तक पुत्ररत्न न हुआ। इन की स्त्री अर्थात् नामदेव जी की माता गोणाई ने पढरपुर के श्रीविठ्ठल को खूब मनाया और श्रीविठ्ठल की कृपा से उसे पुत्र हुआ। इसी का नाम नामदेव था। अपनी जवानी में गृहस्थी करते हुए नामदेव जी को भाई-बंदो ने खूब फँसाया। आख़िर संसार-दुःखों से त्रस्त हो इन का चित्त ईश्वर की तरफ झुका और ये हमेशा साधु-सतों के सहवास में रहने लगे। धीरे-धीरे ईश्वर-भक्ति में इन का चित्त रँगने लगा। अत में ज्ञानेश्वर के छोटे भाई सोपानदेव के विसोबा खेचर नाम के शिष्य से नामदेव जी ने उपदेश ग्रहण किया। इन्हीं गुरु के पास इन्हों ने अभग नामक मराठी छद की रचना सीखी और इसी छद में रचना कर नामदेव भजन-कीर्तन करने लगे। इस भजन-रग में आप ऐसे रँग जाते कि आप को खाने-पीने की भी सुध-बुध न रहती थी। घर में, बाहर, उठते-बैठते, सदा-सर्वदा

आप की वाणी से अभगो का प्रवाह एक-सा निकलता रहता। परिणाम यह हुआ कि नामदेवजी के घर के सभी लोग अभग रचने लगे। पिता दामाशेटी, माता गोणाई, स्त्री राजाई, नारा, महादा, गोदा और विठा नाम के चार पुत्र तथा उन की लाडाई, गोडाई, येसाई और साखराई नाम की चार स्त्रियाँ, लड़की लिंबाई और बहिन आऊबाई ही नही; किंतु उन के घर में काम करनेवाली दासी जनाबाई भी ईश्वर-भक्ति पर अभग रचने लगी। कहा जाता है कि इन सबों ने मिल कर ६६ लाख अभग रचे। तात्पर्य यह कि इन की अभग-रचना बहुत बड़ी थी। नामदेवजी की भक्ति का और इन की कविता का नाम बड़ी दूर-दूर तक फैला। श्रीज्ञानेश्वर के साथ इन्हों ने बड़ी दूर-दूर की तीर्थ-यात्रा की। नामदेव जी का एक मदिर पजाब मे भी पाया गया है और, सिक्ख धर्म के ग्रथ साहब में भी आप के कुछ अभग पद वर्तमान हैं। यह भक्तराज अस्सी वर्ष तक इस दुनिया मे रहे और पढरपुर की तथा विठ्ठल-भक्ति की महिमा खूब बढ़ा कर ई० १३८० में दिवगत हुए।

ज्ञानेश्वर और नामदेव के समय में मानों महाराष्ट्र में सतों की फ़सल सी आई थी। हर एक जाति का एक न एक सत था ही। कुम्हारो मे गोबा और राका, मालियो में सांवता सुनारो में नरहरि, तेलियों में जोगा, चूड़ी बनानेवालों में शामा नाम के साधु प्रसिद्ध थे। वेश्याओं में भी कान्होपात्रा नामक एक भक्त स्त्री थी। और तो क्या बिल्कुल नीच काम करनेवाले और अस्पृश्य समझे जानेवाले महार जाति के लोगों में भी बका और चोखा नाम के दो साधु विद्यमान थे। इन में से कई ज्ञानेश्वर नामदेव के साथ तीर्थ-यात्रा में भी शामिल थे। इस तरह महाराष्ट्रीय सतों की कीर्ति भारत भर में फैल रही थी। इन साधु-पुरुषों ने देश भर में प्रेम की वृष्टि की और इस अमृत-वर्षा से सब प्रकार का भेदभाव नष्ट हो कर महाराष्ट्र भर में प्रेम-भाव फैल गया। इन साधु-सतों में एक विशेषता यह थी कि ये कभी भीख नहीं माँगते थे। अपने-अपने काम करना और आसाढ़ और कार्तिक की एकादशी को पंढरपुर में एकत्र होना, इन का कार्य-क्रम था। आपस में जात-पॉत भूल कर पैर पड़ना, गले लगना, एक दूसरे की कविता लिखना और गाना और सब मिल कर एक दिल से श्रीविठ्ठल का भजन करना, यही इन का धर्म था। चद्रभागा के तट की रेती में देह-भाव भूल कर विठ्ठल की गर्जना करना और उसी प्रेम में आनंद से नाचना यही इन का व्रत था। इन का आचरण अत्यत शुद्ध रहने के कारण तत्कालीन समाज पर इन का बड़ा असर पड़ता था। जाति-भेद तोड़ने का प्रकट और खुल्लम-खुल्ला उपदेश ये कभी नहीं देते थे, परतु इन के सात्विक आचरण में भेद-भाव को स्थान ही न था। 'भेद नही अभेद हुआ है, राम भरा जग सारा' यह उन की कल्पना थी। ईश्वर-भक्ति का जो भूखा है, वह जात-पॉत नही देखता, जिस का जैसा भाव हो उस को वैसा ही मिलता है, यही इन का मुख्य उपदेश था। इन सब कारणों से उस समय महाराष्ट्र भर में भक्ति और प्रेम का साम्राज्य हो रहा था।

परंतु मुसलमान लोगों का आक्रमण नर्मदा के दक्षिण में बढ़ते ही यह स्थिति बदलने लगी। देवगिरि के जिस यादव-कुल के राज्य में महाराष्ट्र भाषा तथा भगवद्भक्ति की एक-सी वृद्धि होती थी उस मे यादवों का राज्य नष्ट होते ही बड़ा भारी खड पड़ा। देवगिरि में मुसलमानी अमल जम गया और उसी के साथ महाराष्ट्र के बुरे दिन आए। हिंदू-सत्ता

अधिकाधिक दक्षिण को जाने लगी। महाराष्ट्र से भाग कर हिंदू लोग कर्नाटक की शरण लेने लगे। इसी दशा में पंढरपुर का नाम सुन कर्नाटक के अनागोदी नामक स्थान का राजा श्रीविठ्ठल के दर्शन को आया और पंढरपुर के देवता पर मोहित हो श्रीविठ्ठल मूर्ति को अपनी राजधानी में ले गया। भगवान् के चले जाते ही वारकरी लोगों की संख्या कम होने लगी और पंढरपुर का महत्व घटने लगा। महाराष्ट्रीय भक्तिपथ पर यह बड़ा ही संकट आया था। पैठण गाँव के भानुदास नामक भगवद्भक्त ने महाराष्ट्र को इस संकट से उबारा। यह अनागोदी गया और राजा के यहाँ से चतुरता-पूर्वक श्रीविठ्ठल की मूर्ति को वापस ले आया। पंढरपुर में फिर उस मूर्ति की स्थापना हुई।

इसी भानुदास के वंश में एकनाथ नाम का एक महासाधु पुरुष उत्पन्न हुआ। एकनाथ के पिता सूर्यनारायण भानुदास के पौत्र थे। एकनाथ की माता का नाम रुक्मिणी था। बचपन में ही एकनाथ के माता-पिता का काल हो जाने के कारण उस का पालन-पोषण उस के दादा चक्रपाणि ने ही किया। इस की बुद्धि बड़ी तीव्र थी। विद्याभ्यास पूरा करने पर यह देवगिरि गया। यहाँ के सूबेदार जनार्दन पंत प्रसिद्ध भगद्भक्त थे। मुसलमानों की सेवा में रह कर भी जिन सत्पुरुषों ने अपने धर्म तथा भाषा की रक्षा भलीभाँति की थी, उन में से ही जनार्दन पंत एक थे। दो मालिकों की सेवा एक ही सेवक को करना बड़ा कठिन है। पर जनार्दन पंत अपने मुसलमान मालिक तथा सर्वेश दत्तात्रेय दोनों की सेवा बड़ी चतुरता से करते थे। इन्हों ने ज्ञानेश्वरी ग्रंथ का अध्ययन बड़े परिश्रम से किया था। एकनाथ ने इन से उपदेश लिया। शिष्य की असाधारण बुद्धि देख जनार्दन पंत ने एकनाथ को मराठी में ग्रंथ-रचना करने की आज्ञा दी। एकनाथ मराठी और फ़ारसी दोनों भाषा में निपुण थे। इन के गद्य ग्रंथों में फ़ारसी के अनेक शब्द पाए जाते हैं। इन की ग्रंथ-रचना में श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध पर लिखी हुई टीका बहुत प्रसिद्ध है। इस टीका-लेखन का पैठण में आरंभ हुआ और तीर्थ-यात्रा करते-करते ही एकनाथ ने इस का बहुत-सा भाग लिख कर टीका काशीपुरी में पूरी की। यह ग्रंथ पूरा होते ही इन की प्रसिद्धि काशी के पंडितों में ख़ूब हुई और तब से आज तक महाराष्ट्र भाषा में यह ग्रंथ बहुत माना जाता है। इस समय एकनाथ की आयु केवल २५ वर्ष की थी। इन्हों ने बहुत से ग्रंथ लिखे। इन के ग्रंथों में अद्वैत-ज्ञान और भगवद्भक्ति का बड़ा सुंदर मिलाप देखने में आता है। इन का आचरण भी बड़ा शुद्ध और पवित्र था। भूतदया तो इन के नस-नस में भरी थी। इन्हों ने अतिशूद्रों को भी अपनाया और पितृ-श्राद्ध के लिए बनाई रसोई से क्षुधित अंत्यजों को भी ब्राह्मणों के पहले जिमाया था। यह एक बार आळंदी गए और वहाँ पर महीनों तक अपनी हरिकथा से लोगों को ईशगुण सुनाते रहे। श्रीज्ञानेश्वर महाराज के समाधि की बुरी हालत देख, इन्हों ने उस का जीर्णोद्धार किया। उसी समय इन्हों ने एक और भारी काम किया। ज्ञानेश्वरी का अध्ययन तो इन्हों ने जनार्दन पंत के पास किया ही था। उसी ग्रंथ में कई लोगों द्वारा प्रयुक्त बहुत से अपपाठ देख कर इन्हों ने ज्ञानेश्वरी का अत्यंत शुद्ध संस्करण तैयार किया। इस प्रकार अपनी उपदेश-वाणी से जड़ जीवों को तार कर श्रीएकनाथ जी महाराज अपनी वयोवस्था के ८१वें वर्ष में (ई० १५९९) फाल्गुण बदी छठी के रोज़ समाधिस्थ हुए।

एकनाथ की मृत्यु के समय महाराष्ट्र की स्थिति उदयोन्मुख थी। श्रीज्ञानेश्वर महाराज ने जिस समय महाराष्ट्र में भक्ति-मार्ग की स्थापना की, वह समय महाराष्ट्र के अत्यंत अनुकूल था। उस समय रामदेवराय से यादव-वंशी न्यायी राजा थे। हेमाद्रि पंडित से शिल्पकला तथा लघु-लेखन-लिपि के प्रवर्तक विद्वान् मंत्री थे, बोपदेव से तीक्ष्ण-बुद्धि पंडित थे, ज्ञानदेव से ज्ञानी और नामदेव ऐसे नाम-प्रेमी भगवद्भक्त थे और मुक्ताबाई, जनाबाई-सी भक्त-स्त्रियाँ भी विद्यमान थीं। इस के बाद तीन सदियाँ महाराष्ट्र में बुरी तरह से गुजरीं। यवन लोगों का आक्रमण महाराष्ट्र भर में हो गया और राज-सत्ता नाम को भी महाराष्ट्र में न रही। जिधर देखो उधर मुसलमानों का असर दिखाई देने लगा। पर फिर भी यह असर सर्वदेशीय न था। राजकीय बातों में यद्यपि महाराष्ट्र अपना स्वत्व खो बैठा था, तथापि धार्मिक, सामाजिक इत्यादि विषयों में उस ने अपनी बात बड़ी हिफ़ाजत से सँभाल रक्खी थी। बहमनी राज्य के टुकडे होते ही मराठा वीर और राजपुरुष अपनी राजकीय स्थिति को भी सँभालने लगे। मराठा लोगों का स्वाभिमान-दीपक बिल्कुल कभी न बुझा, क्योंकि महाराष्ट्र-संतों द्वारा इस में हमेशा स्नेह डाला ही जाता था। ज्ञानेश्वर, नामदेव प्रभृति संतों ने हिंदूधर्म के जिस उदार नए स्वरूप का उपदेश किया था, उसी के कारण मुसलमान लोगों के अमल में भी हिंदूधर्म जड़ पकड़ रहा था। बीच के प्रतिकूल काल में जो साधु-संत हुए, उन्हीं के उपदेशामृत से महाराष्ट्र अपने विरोधकों से टक्कर लेता रहा। मुसलमानी अमल के नीचे रहते हुए भी ये साधु-संत महाराष्ट्र भाषा की वृद्धि करते रहे और अपने अभिनव महाराष्ट्र-धर्म की ध्वजा फहराते रहे। यवन राजाओं के अधीन रह कर भी दामाजी पंत ऐसे बेदर के सत्पुरुष ने अकाल के समय बादशाही कोठों का अनाज लुटवा दिया और अपनी जान भी जोखिम में डाल कर हजारों ग़रीबों के प्राण बचाए। जनार्दन पंत ने भी अपनी तपस्या से बड़ा भारी काम किया। एकनाथ ने जिस ईश्वर-भक्ति का उपदेश किया, उस उपदेश से तो भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना करनेवाले भी एक ही भक्ति-मार्ग के अनुयायी कहलाने लगे। सप्तश्रृंगी पर शक्ति की उपासना करनेवाले अंबकराय, चिंचवड़ में गजानन की भक्ति करनेवाले मोरया गोसाईं, शिंगणापुर के शिवभक्त महालिंगदास इत्यादि लोगों को एकत्र संगठित करने का काम श्रीएकनाथ की ही प्रासादिक वाणी से हुआ। सारांश यह कि सत्रहवीं सदी के आरंभ में इन पूर्वोक्त महानुभावों से भी बढ़े-चढ़े विभूतियों के अवतार की महाराष्ट्र अपेक्षा कर रहा था।

इसी अवस्था में महाराष्ट्र के अच्छे दिन दिखलानेवाले महात्माओं का जन्म हुआ। श्रीएकनाथ जी के समाधिस्थ होने के पश्चात् नौ वर्ष से ही तुकाराम और रामदास इन दो भगवद्भक्तों का अवतार हुआ। ये दोनों भगवद्भक्त उन्नीस वर्ष के भी न हुए थे कि महाराष्ट्रधर्म-संस्थापक, गोब्राह्मण-प्रतिपालक श्रीशिवाजी महाराज रायगढ़ पर अवतीर्ण हुए। तुकाराम, रामदास और शिवाजी महाराष्ट्र का उद्धार करनेवाले तीन महापुरुष हैं। श्रीशिवाजी महाराज ने अपनी उज्ज्वल देशभक्ति से और अनुपम वीरता से महाराष्ट्र को पराधीनता से छुड़ाया। श्रीसमर्थ रामदास स्वामी जी ने धर्म और राजनीति का बड़ा ही मधुर मिलन कर के भगवद्भक्तों को वीर और वीरों को भगवद्भक्त बनाया और श्रीतुकाराम

महाराज ने समाज के नीचे से नीचे लोगो को भी उन्नत कर सपूर्ण देश की सर्वागीण उन्नति की। ज्ञानेश्वर ने जिस धर्म की स्थापना की, नामदेव ने जिसे बढाया, एकनाथ ने जिसे उन्नत किया, उसी भक्तिपर महाराष्ट्र-धर्म को श्रीतुकाराम महाराज ने अत्युच्च सीमा को पहुँचाया। इस भगवद्भक्त की अभगरूप वाणी महाराष्ट्र में केवल उस समय ही नही गूँज उठी, परतु जब तक महाराष्ट्र भाषा-भाषी एक भी मनुष्य विद्यमान है, तब तक गूँजती रहेगी। सस्कृत-सी प्रगल्भ भाषा मे प्रभुता प्राप्त किए पडित, अगरेजी-सी उपयुक्त परकीय भाषाएँ पढ़ कर अपनी अस्खलित वक्तृता से लोगों को मुग्ध करनेवाले वाग्मी विद्वान्, साधारण ज्ञान प्राप्त कर अपनी जीविका चलानेवाले सामान्य जन, इन से ले कर पुस्तकी ज्ञान से पूर्णतया वचित केवल लँगोटी पहिननेवाले 'काँधे कमलिया, हाथ मे लकड़िया' रखनेवाले समाज के आधारभूत अज्ञ लोगों तक एक भी मनुष्य महाराष्ट्र में ऐसा न मिलेगा, जिस के मुख मे श्रीतुकाराम महाराज की अभगरूप वाणी का कुछ न कुछ अंश वास न करता हो। इन्ही दिव्य महात्मा का जीवन-वृत्तात और उन का दिया हुआ दिव्य संदेश नागरी भाषा-कोविद विद्वानों पर विदित करने के हेतु यह ग्रथ लिखा जाता है।

द्वितीय परिच्छेद

तुकाराम का जन्म

तन मन धन से जगत हित
ईश भक्ति करतार।
दुर्लभ ऐसे पुरुष का
भूतल पर अवतार॥

श्रीतुकाराम महाराज का जन्म ई० १६०८ में देहू गाँव में हुआ। यह गाँव इद्रायणी नदी के तट पर बसा है। इसी नदी पर आकंदी गाँव है जहाँ श्रीज्ञानेश्वर महाराज समाधिस्थ हुए थे। देहू, आकदी गाँवों के पास से बहते-बहते यह इद्रायणी आगे जा कर भीमा नदी से मिलती है जिस के तट पर पढरपुर है। जिस प्रकार पंढरपुर पुंडलीक के, आकदी ज्ञानेश्वर के, गोदावरी-तट पर का पैठण एकनाथ के, उसी प्रकार देहू तुकाराम के कारण प्रसिद्ध हुआ। आज महाराष्ट्र के प्रसिद्ध पवित्र स्थानों मे वह एक समझा जाता है, और चैत बदी दूज से ले कर पाँच दिन वहाँ हजारों भाविक तुकारामजी की निधन-तिथि मनाने के लिए जाते हैं। बबई से पूना आते हुए घाट चढ़ने के बाद लोणावला नामक स्टेशन पडता है। इसी के पास इद्रावणी का उद्‌गम-स्थान है। आगे चल कर तलेगाँव के बाद शेलारवाड़ी स्टेशन लगता है, जहाँ से देहू केवल तीन मील है। देहू गाँव के चारों ओर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर पहाड़ हैं। पश्चिम की ओर दो मील पर भंडारा, दक्षिण की तरफ छः मील पर गोराडा और उत्तर को आठ मील पर भामनाथ नाम

के पहाड़ हैं। इंद्रायणी पूरब की ओर बहती जाती है, पर देहू के पास काशी जी की गंगा सी वह उत्तरवाहिनी हो जाती है। पंढरपुर में श्रीविट्ठल ईंट पर अकेले ही खड़े हैं। वहाँ उन के पास रखुमाई की मूर्ति नहीं। रखुमा माता का मंदिर वहाँ निराला है। पर देहू में विट्ठल और रखुमा बाई की मूर्तियाँ पास-पास ही विराज रही हैं। ये मूर्तियाँ तुकाराम महाराज के आठवें पूर्वज विश्वंभर बाबाजी के हाथ से स्थापित हुई हैं। मंदिर उत्तराभिमुख है। सामने गरुड़ जी हैं। हनूमान भी पास में हैं। पूर्व की ओर विघ्नराज विनायक हैं और एक भैरवनाथ का भी स्थान है। दक्षिण में हरेश्वर का मंदिर, उस के पीछे बल्लालबन और वहाँ पर सिद्धेश्वर का देवालय और उसी के पास श्रीलक्ष्मीनारायण के ऐसे दो देवालय और हैं। ये सब देव-स्थान तुकाराम के जन्म से पूर्व के ही हैं। तुकाराम के एक अभंग में इन सबों का इसी प्रकार से वर्णन है। तुकाराम के कारण देहू प्रसिद्ध हो जाने पर नदी के तीर पर एक पुंडलीक का भी मंदिर अब बन गया है। इंद्रायणी यहाँ से मील डेढ़ मील तक बड़ी गहरी है। इसी स्थान पर तुकाराम अकेले आ कर ईश्वर-भजन करने बैठते थे। जब तुकाराम की हस्तलिखित कविताओं के कागज इंद्रायणी में डुबोए गए, तब यहीं नदी के किनारे एक बड़ी शिला पर तुकाराम तेरह दिन तक मुख में पानी की बूँद भी न डाले पड़े रहे थे। इसी शिला पर उन्हें ईश्वर का साक्षात्कार हुआ था और उन की कविता के डुबाए हुए बस्ते तेरहवें दिन नदी में फूल कर तैरने लगे थे। भगवान् बुद्ध के चरित्र में जिस बोधि-वृक्ष के नीचे उन्हें निर्वाण-ज्ञान प्राप्त हुआ, उस का जो महत्व है, तुकाराम के चरित्र में इस शिला का भी वही महत्व है। तुकाराम के भक्तों द्वारा यह शिला अब देहू के विट्ठल मंदिर में लाई गई है और तुकाराम की ज्येष्ठ पत्नी के नाम से तुलसी जो वृंदावन मंदिर में है, उसी के पास वह अब रक्खी गई है। मंदिर के पश्चिम में तुकाराम का मकान है। जिस कमरे में तुकाराम का जन्म हुआ वहाँ अब भक्तों ने एक नई विट्ठल-मूर्ति की स्थापना की है। इस वर्णन से पाठक अपनी दृष्टि के सामने देहू का चित्र खींच सकेंगे।

देहू गाँव की बस्ती प्रायः मराठा कुनबी लोगों की है। ये लोग जाति के शूद्र होते हैं। इन में से बहुतेरे खेती बारी करते हैं। पर कुछ थोड़े व्यापार भी करते हैं। महाराष्ट्र के इन छोटे-छोटे गाँवों में कुछ-कुछ काम वंश-परंपरा से चलते हैं। इन्हीं कामों में से महाजन का एक काम है। बाजार में बेचनेवाले और खरीदनेवाले दोनों से महाजन का संबंध आता है। बेचनेवाले के पास माल या खरीदनेवाले के पास रुपया काफी न हो, तो इस महाजन की जमानत पर व्यवहार किया जाता है और दोनों ओर से इसे नियमित फ़ी सदी कमीशन मिलता है। देहू गाँव की महाजनी तुकाराम के कुल में थी। इस के सिवाय तुकाराम के पूर्वजों की कुछ खेती-बारी, एक-दो बाड़े और थोड़ी-सी साहूकारी भी थी। थोड़ा-सा व्यापार भी इन के यहाँ होता था। साराश तुकाराम का कुल देहू के प्रतिष्ठित लोगों में माना जाता था। ब्राह्मण-जाति के न होने के कारण इन्हें यद्यपि वेदाध्ययन का अधिकार न था, तथापि पुराणादि ग्रंथों का ज्ञान तथा महाराष्ट्र भर में उस समय की प्रचलित विट्ठल-भक्ति और पंढरपुर की वारी इस कुल में चली आई थी।

श्रीविट्ठल या पाडुरग की सेवा को तुकाराम महाराज अपने पूर्वजों की वतनदारी कहते हैं और यद्यपि पूर्वजो के दूसरे वतन श्रीतुकाराम महाराज ने न चलाए तथापि इस विट्ठल-भक्ति के वतन को पूर्णतया चला कर आप ने यह वतनदारी चरम-सीमा को पहुँचा दी।

श्रीविट्ठल की यह वतनदारी करनेवाले इस कुल की जात थी शूद्र-कुनबी, धंधा था बनिए का, उपनाम था आँवले और कुलनाम था मोरे। इस कुल मे विश्वभर बाबा नामक एक प्रसिद्ध पुरुष हो गए थे। इन के पिता का देहान्त बचपन मे होने के कारण इन का पालन इन की माता ने ही किया। यथासमय विश्वभर बाबा का व्याह हुआ। इन की पत्नी का नाम आमाबाई था। विश्वभर बाबा की छोटी सी दूकान थी। विट्ठल भक्ति सत्यता-पूर्वक व्यापार, अतिथि-सत्कार इत्यादि सद्गुणो से विश्वंभर बाबा सब देहू वासियो को बडे प्रिय थे। पर कई साल तक बाबा ने पढरपुर की व री न की थी। उन दिनो वारी को जाना आज का-सा सुलभ न था। खास कर व्यापारी और पैसे वालों को चोर, लुटेरे तथा डाकुओ का बडा डर था। सोना लकड़ी में बाँध काशी से रामेश्वर जाने के आज के से वे दिन नहीं थे। केवल फर्क इतना ही था कि आज कल हमारे पास सोना ही बाँधने के लिए नहीं है और उस समय सोने की कमी न थी। खास कर मुसलमानो का उन दिनो बड़ा डर रहता था। मुसलमान सिपाही हिंदुओ को बराबर लूटा करते थे और मौक़ा पा कर हिंदू भी उस का बदला लेने की ताक में रहते थे। ऐसे दिनो में यदि बहुत दिनो तक बाबा पढरपुर न गए तो कोई अचरज की बात न थी। पर उन की माता उन्हे बराबर पढरपुर जाने के लिए कहती। अत में बाबा ने एक कार्तिकी एकादशी को पढरपुर जाने की ठानी। अपने गाँव के भाविक लोगों को साथ लिया और 'विट्ठल, विट्ठल, जय जय बिठोवा रखु माई, जय ज्ञानेश्वरी माडली' इत्यादि भजन करते-करते बाबा पढरपुर गए। वहाँ पहुँचते ही भक्तो का ठाट देख कर बाबा के आनंद का ठिकाना न रहा। चद्रभागा के पवित्र जल में स्नान कर, गोपीचन्दन का टीका जमा, तुलसी के मणियो की माला गले में पहने हुए हजारों वारकरी लोगों की 'पुडलीक वरदा हरि विट्ठल' की गर्जना सुन बाबा का शरीर पुलकित हो गया। मदिर में जा कर 'टोपी सिर पर, अबीर तन पर, तुलसी की माला गले पड़ी, विट्ठल की मूरती खड़ी' देख कर बाबा के आँखों में अश्रु छा गए और थोड़ी देर उस विट्ठल-मूर्ति के पैरो पर माथा रख कर बाबा सुध बुध भूल गए। विश्वभर बाबा चार दिन पढरपुर रहे और पूर्णिमा के दिन जो दही-हाँडी का उत्सव होता है, वह देख कर घर आने को निकले। पढरपुर छोडने से बाबा को बडा दुःख हुआ और 'पुनरागमनाय च' का निश्चय कर के बाबा घर पहुँचे। माता से सब हाल कह सुनाया और साथ ही हर एकादशी को पंढरपुर जाने का अपना दृढ़ निश्चय भी निवेदन किया। माता ने बहुत समझाया पर बाबा का निश्चय देख बेचारी चुप हो रही। विश्वभर बाबा हर एकादशी को पढरपुर जाने लगे। बाबा ने आठ महीने में १६ वारियाँ कीं। आने-जाने के आठ दिन और पढरपुर में रहने के दो दिन जाने पर घर-गिरस्ती के काम देखने को हर पखवारे में बाबा को केवल चार-पाँच दिन रहने लगे। धधे का नुक़सान होने लगा। लोग भली-बुरी सुनाने लगे। इधर चौमासा भी आ पहुँचा था। इन सब कारणों से बाबा का चित्त दुविधे में पड़ा। पर

बाबा की अनन्य भक्ति देख श्रीविट्ठल ने स्वप्न में आ कर बाबा को दृष्टांत दिया कि 'मैं तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हूँ। अब तुम पढरपुर आने का कष्ट न उठाओ। तुम्हारे बदले मैं ही रखुमाई के साथ तुम्हारे घर आता हूँ। मुझे गाँव बाहर के बन में से ले आओ।' विश्वंभर बाबा बड़े आनदित हुए। स्वप्न में कहे अनुसार बाबा लोगों को ले कर बन में गए। वहाँ एक स्थान पर सुगधि फूल, अबीर, तुलसी पडी हुई देख बाबा ने वहाँ खोदा तो विट्ठल और रखुमाई की सुदर मूर्त्तियाँ मिली। बाबा ने अपने घर के पास ही इद्रायणी-तट पर मदिर बनवाया और बड़े समारोह के साथ इन मूर्त्तियो की उस मदिर में स्थापना की। अब बाबा को पढरपुर की वारी करने का कारण नही रहा। बाबा के लिए देहू ही पढरपुर बन गया।

विश्वभर बाबा की सगति से आमाबाई का भी चित्त विट्ठल-भक्ति मे आसक्त था। परतु बाबा के हरि और मुकुद दोनो पुत्र बाबा-से सात्विक तथा अल्प सतुष्ट न थे। उन की सासारिक उच्च आकाक्षाओ के लिए देहू-सा छोटा गाँव पूरा न पडता था। उस समय दक्षिण में विजयनगर का हिंदू-राज्य स्थापित हो चुका था और उस का बोलबाला महाराष्ट्र में भी सुनाई देता था। अपने भाग्य की परीक्षा लेने के लिए, विश्वभर बाबा के पश्चात् हरि और मुकुद दोनों घर छोड विजयनगर पहुँचे और क्षात्रवृत्ति से फौज में नौकरी कर के रहने लगे। कुछ दिनों बाद उन्होंने अपनी स्त्रियों तथा माता को भी वही बुला लिया। आमाबाई का मन चल-विचल होने लगा। एक तरफ पुत्र-प्रेम और दूसरी तरफ विट्ठल-भक्ति। घर छोड़े तो विट्ठल की पूजा-अर्चा कैसे हो, और देहू का घर न छोडे तो पुत्रों का ससार कैसे सँभले। इस झगड़े में पुत्र-प्रेम की जीत हुई और आमाबाई विट्ठल-पूजा का कुछ प्रबध कर विजयनगर गई। पर उस का चित्त एक-सा देहू में विट्ठल-मूर्त्ति के पास था। उस का मन उसे टोकता रहता था कि जो कुछ किया वह भला न किया। चित्त में एक-सा यही विचार आता था। एक रात उसे स्वप्न हुआ कि लड़ाई में उस के दोनो पुत्र मारे गए। उस ने लड़कों को सपना सुनाया और उन्हे नौकरी छोड़ देहू चलने के लिए कहा। पर धन मान के पीछे पडे हुए तरुण पुत्र बेचारी माता की बात कैसे माने? नौकरी छोड़ देहू में जा कर फिर नमक मिरची बेचने को वे तैयार न थे। अत में माता का स्वप्न ही सच निकला। बहमनी सुलतान फीरोज ने विजयनगर पर चढाई की और उसी लड़ाई में हरि और मुकुंद दोनो काम आए। मुकुंद की स्त्री ने पति के साथ सहगमन किया। हरि की स्त्री गर्भवती होने के कारण वैसा न कर सकी और सास के साथ देहू लौटी। वृद्धा आमाबाई ने ससार छोड़ विट्ठल की सेवा में ही मन लगाया। हरि की स्त्री को प्रसूती के लिए उस के मायके भेज दिया। वहीं उसे पुत्र हुआ। आमाबाई की इच्छानुसार लड़के का नाम विट्ठल रखा गया। पर आमाबाई को पोते का मुख देखने का सौभाग्य न मिला। विट्ठल छोटा ही था कि आमाबाई बीमार पड़ी। विट्ठल की माँ को खबर पहुँचाई गई। वह बेचारी गोद मे बच्चा ले दौड़ती आई पर वह दोनो के देहू पहुँचने के पहले ही आमाबाई के प्राण-पखेरू उड़ गए थे।

विट्ठल की माँ अपने सब दुःखों का कारण एक ही समझती थी। वह था विट्ठल-भक्ति को छोड़ देना। उस की भोली भावना यह हो चुकी थी यदि उस का पति और देवर अपने घर पधारे हुए विठोबा का त्याग न करते, तो यह संकट परंपरा उन पर न आती।

उस के सास ने जो सपना देखा था, वह भी उसे ज्ञात था। उस के मन में यह बात पूरी-पूरी जम गई थी कि स्वप्न मे प्रत्यक्ष श्री विठ्ठल ने आगामी सकट की सूचना दी थी, पर हम लोगो ने अज्ञानवश उस की ओर दुर्लक्ष्य किया और इसी लिए सकट-समुद्र मे डूब मरे। विजयनगर से लौटने पर भी आमाबाई ने जो विठ्ठल-सेवा की, उसी का फल इस विठ्ठल-पुत्र के रूप मे मुझे मिला है। अतएव अब हमें सिवाय विठ्ठल-सेवा के दूसरी शरण ही नही।

मुसीबतों से जो नसीहत आदमी सीखता है, उसे वह भुलाए भी नही भूलता। विठ्ठल के माँ की यह कल्पना और उस की आँखो के सामने उस कल्पनानुसार जो जीता-जागता उदाहरण था, इन का असर केवल विठ्ठल के ही मन पर नहीं, किंतु विठ्ठल के पुत्र पौत्रादि वशजो के भी मन पर खूब पड़ा हुआ दिखाई देता है। तुकाराम की मृत्यु के पश्चात् उन के भाई कान्होबा ने जो विलाप के अभग रचे हैं, उन मे भी वे कहते हैं, "नाथ, हम लोगों पर सकट-परपरा डाल, आप हमे अपनी सेवा से अविचल रखते हो। अपने पूर्वजो का जो हाल हम ने सुना है, वह इस का प्रत्यक्ष उदाहरण है।" इस कारण से विठ्ठल की माता ने अपने पुत्र को उस के बचपन ही से विठ्ठल-सेवा का दूध पिलाया। वह उस से हर प्रकार की विठ्ठल-सेवा कराने लगी। चदन घिसना, फूल लाना, तुलसी की माला गूँथना, भोग लगाना, आरती उतारना, भजन करना इत्यादि काम बिल्कुल छोटेपन से ही विठ्ठल करने लगा। पर विठ्ठल को मातृ-सुख भी बहुत दिन न मिला। श्रीविठ्ठल ने उस की मा को बैकुंठ में बुला लिया और देहू के मकान मे विठ्ठल लड़का और विठ्ठल भगवान के सिवाय और कोई न रहा।

यथा-काल विठ्ठल बड़ा हुआ, उस का विवाह हुआ, वह ससार के धंधे में लगा। उसे पुत्र भी हुआ, सब कुछ हुआ, पर उस का ध्यान ससार मे न जम सका। ऐन जवानी में भी वह विरक्त ही बना रहा और उस का पुत्र पदाजी जैसे ही घर सँभालने योग्य हुआ तैसे ही उस के गले में गृहस्थी बाँध वह पढरपुर की वारियाँ करने लगा। आगे की तीन पीढियों में यही क्रम चला। पदाजी का शकर, शकर का कान्होबा और कान्होबा का पुत्र बोल्होबा—ये सब भगवद्भक्त थे, वैश्य-वृत्ति करते हुए भी असत्य न बोलने का इन का व्रत था। पुत्र के ससार का भार सँभालने लायक होते ही संसार की धुरा उस के कधों पर रख भगवद्भक्ति करने के लिए पूर्णतया मुक्त होना यह मानों इन का कुलाचार ही हो चुका था। विठ्ठल के समय से आसाढ कार्तिक की वारी इन के कुल में न चूकी। विठ्ठल, पदाजी, शंकर और कान्होबा इन चारो का यही क्रम रहा। जन्म भर ये वारकरी बने रहे। इस अवस्था में यदि तुकाराम महाराज विठ्ठल-सेवा को अपनी वतनदारी बतलावे तो अचरज ही क्या? ईश्वर के पास वरदान माँगते समय भी तुकाराम कहते हैं, "महाराज मैं तो पढरपुर का वारकरी हूँ। प्रार्थना इतनी ही है कि वह वारी मेरी कभी न चूकने पावे।"

यहाँ पर महाराष्ट्रीय वारकरी-पंथ के मुख्य-मुख्य सिद्धातों को समझ लेना अनुचित न होगा। यह कहने की आवश्यकता ही नही कि इस मार्ग का उपास्य देवता श्रीविठ्ठल है। वैसे तो ये लोग सब देवताओ को मानते हैं पर समय पड़ने पर सब से श्रेष्ठ श्रीविठ्ठल

को ही मानते हैं। तुकाराम कहते हैं—"मेरा पढरीराज बड़ा जबरदस्त है। वह सब देवो का भी देव है। वह जाखाई, जोखाई, मायराणी, प्लैसाबाई इत्यादि (ग्रामीण) देवताओं सा नहीं है। वह न तो मद्यमासादि खानेवाली रडी, चडी, शक्ति-सा है, न रोट खानेवाले भैरव या खडेराव-सा है। मुंजा वा, भैसासुर तो उस के सामने के छोकरे हैं। मुँह काला हो उस बेताल फेताल का! और तो क्या, लड्डुआ, मोदक, खानेवाले बडे पेट के गणोबा से भी वह श्रेष्ठ है। चित्त में धारण करने योग्य है तो केवल एक ही है और वह है रखुमाई का पति विठ्ठल।" श्रवण, कीर्तन, नामस्मरण, पादसेवन, अर्चन, वदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन ये भक्ति के नौ प्रकार हैं। पहली दो प्रकार की भक्तियों में ब्राह्मणो का वेद शास्त्राभिमान आड आता है। उन के सिद्धातानुसार वेदमत्र केवल उचारने का ही नही, किंतु सुनने का भी अधिकार सबों को नहीं है। पादसेवन से सख्य तक की भक्ति रीतियों में ईश्वर मूर्ति को छूने का प्रश्न उठता है और छुआछूत के भूत से पछाडे हुए लोग हर एक मूर्ति को छूने का भी अधिकार यच्चयावत् मनुष्य को देने के लिए तैयार नही। इन सब बातों का विचार कर इस पथ ने नामस्मरण पर ही जोर दिया और नवी भक्ति जो आत्मनिवेदन अर्थात आत्म-समर्पण है उस का मुख्य साधन नामस्मरण ही बनाया। क्योकि नाम लेने में कोई किसी प्रकार का प्रतिबध नही कर सकता। कम से कम वेद-शास्त्रों के अज्ञात विठ्ठल नाम लेने का तो सबो को एक-सा अधिकार है। इसी कारण ईश्वर के सामान्य नाम राम, कृष्ण, हरि इत्यादिको की अपेक्षा इस पथ मे विठ्ठल नाम पर अधिक ज़ोर दिया जाता है। और यही कारण है कि पढरपुरकी वारी का असली आनद श्रीविठ्ठल दर्शन की अपेक्षा भी चद्रभागा के बालुकायुक्त तीर पर सब सतो के साथ "विठ्ठल रखुमाई, विठोबा रखुमाई" एक स्वर से कहने में और एक ताल से नाचने में हैं। एकादशी का उपवास और असाढ़ी कार्तिकी एकादशी को पढरपुर की वारी, यह इस पंथ का व्रत है। मद्य और मास का वर्जन इन का नियम और भीख न माँग कर अपना-अपना काम कर के उपजीविका करना इन का बाना। तुकाराम महाराज साफ कहते हैं—"भिक्षा माँगने के लिये कटोरा उठाना! आग लगे ऐसी जीविका को। ऐसे आदमी की तो नारायण को उपेक्षा ही करनी चाहिए। दीन, बेचारे, बन कर दुनिया पर अपना भार डालना इस से बड़ा दुर्भाग्य कौन सा हो सकता है? भीख मागना तो एक ही बात ज़ाहिर करता है कि इस भिखमगे का ईश्वर पर विश्वास नही है। ईश्वर की भक्ति कर के दूसरे पर भार डालना तो एक प्रकार का व्यभिचार है।" भूत-मात्र में भगवान् समझ कर शरीर से वाणी से या मन से भी किसी को न दुखाना और सबो को उपयुक्त हो कर जनता जनार्दन की सेवा करना इस मार्ग का अतिम ध्येय है। अन्य मार्गों के समान आज यह पथ भी थोड़ा-बहुत बिगड गया है, पर जिस काल का वर्णन किया जाता है उस समय इस पथ में सब से अधिक पवित्रता वास करती थी।

ऐसे पवित्र कुल मे तुकाराम के पिता बोल्होबा का जन्म हुआ था। कान्होबा को ससार का काम सुपुर्द कर लेने के बाद बोल्होवा ने अपना काम बड़ी दक्षता से सँभाला। इन की पत्नी कनकाई पूने के पास के लोहगाँव में रहनेवाले मोझे उपनामक कुल

मे पैदा हुई थी। यह भी गृहकार्य मे बड़ी चतुर थी। जब बोल्होबा के पिता कान्होबा का देहात हुआ तब बोल्होबा बिल्कुल तरुण हो थे। पिताजी ने यद्यपि घर के सब व्यवहार इन के सुपुर्द पहले ही किए थे, तथापि पिता के जीवित रहते सब व्यवहार करना एक बात थी और पिता की मृत्यु के बाद स्वतन्त्रता-पूर्वक अपनी ही पूरी-पूरी जिम्मेदारी पर काम चलाना दूसरी बात थी। पर बोल्होबा बडे धीरज के पुरुष थे। इन्हो ने न केवल घर के ही सब कामकाज सँभाले, पर आसाढ कार्तिक की वारी भी पिता जी के पीछे उतनी तरुण अवस्था मे भी सभाली। इसी समय इधर इन की माता का भी देहात हो गया। सब घर का काज ही इन दो पति-पत्नियो पर आ पडा। पर दोनो एक-दूसरे को धीरज देते थे। ठीक इसी समय अर्थात् सन १८७३ मे श्रीएकनाथ महाराज आबदी गॉव मे समाधि का जीर्णोद्धार करने आए हुए थे। उन का कीर्तन वहा रोज होता था जो सुनने के लिए बड़े दूर-दूर से लोग जमा होते थे। देहू गॉव आबदी से केवल पॉच कोस दूरी पर है। इतने पास श्रीएकनाथ जी का कीर्तन है इस बात का पता लगते ही बोल्होबा भी कभी-कभी कीर्तन सुनने जाते और घर में अकेली रहना ठीक न समझ कर कनकाई भी इन के साथ जाती। नाथ जी से कीर्तन का प्रपच-परमार्थ दोनों एक साथ साधने का सुदर उपदेश सुन कनकाई के मन में भी विट्ठल-भक्ति दृढ हुई। बोल्होबा के साथ वारी करने के लिए वह भी कई बार पढरपुर गई। इस प्रकार बोल्होबा तथा कनकाई के कई साल बडे आनद मे गुजरे। पति-पत्नी का परस्पर प्रेम, घर में कुछ कमी न होने से चिंता का अभाव और दोनों के हृदय में श्रीविट्ठल की भक्ति तथा सेवा करने की अभिलाषा। फिर आनद की क्या कमी? पर जैसे-जैसे उम्र बढने लगी, वैसे-वैसे सतान न होने का दुख दोनो पति-पत्नी को और विशेषतः कनकाई को असह्य होने लगा। बोल्होबा को ज्ञानेश्वर-एकनाथ के ग्रथों से अधिक प्रेम था। परतु कनकाई को नामदेव जी के सीधे-सादे पर प्रेमभरे हृदयस्पर्शी अभगो की अधिक चाव थी। "हे पुरुषोत्तम, तुम्हारे प्रेम में मुझे तो जान पड़ता है कि तुम हो आकाश, तो मैं हूँ भूमिका, तुम हो समुद्र, तो मैं हूँ चद्रिका; तुम हो तुलसी, तो मैं हूँ मजरी, तुम हो अलगूज, तो मैं हूँ बाँसुरी; तुम हो चॉद, तो मैं हूँ चॉदनी, तुम बनो नाग, तो मै बनूँ पद्मिनी; नामदेव कहे तुम आत्मा मैं शरीर, पर असल मे देखा जाय तो तुम और में दोनो एक ही हैं।" इत्यादि अभग कनकाई बडे प्रेम से गाती और अपने मन की अभिलाषा श्रीविट्ठल से निवेदन करती। अत मे बोल्होबा के पिता की मृत्यु के ठीक इक्कीस वर्ष बाद कनकाई को पहला पुत्र हुआ। इस का नाम सावजी। इसी साध्वी के दूसरे पुत्र श्रीतुकाराम महाराज थे। कहते है कि नामदेव जी की भगवद्गुण गाने की तथा एक कोटि अभग रचना करने की अभिलाषा पूरी न हुई थी, जिसे पूर्ण करने के हेतु उन्हों ने तुकाराम के रूप से फिर अवतार लिया।

अवतारी पुरुष जन्म लेने के लिए शुद्ध कुल ढूँढते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं "योगी पुरुष का योग पूरा होने के पहले यदि उस का देहात हो तो वह फिर अत्यन्त शुद्ध कुल में जन्म लेता है और वहाँ पर अपने पौर्वदैहिक बुद्धि-सयोग को पा अपनी योग-सिद्धि करता है।" फ़सल अच्छी आने के लिए जैसे बीज और खेत दोनों

अच्छे लगते हैं उसी तरह सत्पुरुषों का सदैव पूर्व-जन्म तथा कुल दोनों अच्छे माने जाते हैं। बीज अच्छा हो, पर यदि वह ऊसर जमीन मे पडे तो किस काम का! भला खेत खूब जुता हुआ बिल्कुल तैयार है, पर उस में यदि गला-सडा बीज बोया जावे तो भी क्या लाभ? दोनों आवश्यक हैं। सत्कुल सुकृष्ट क्षेत्र का-सा है और पूर्व-संस्कार बीज-शक्ति के से हैं। जहाँ दोनों का मिलाप होता है, वही फसल अच्छी आती है। इस लिए यदि नामदेव जी ने तुकाराम के कुल का-सा, एक-दो ही नहीं पर पीढ़ियों की पीढ़ियाँ श्री विट्ठल-भक्ति मे सना हुआ शुद्ध कुल पसंद किया हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। नामदेव के अवतार की कथा को कल्पना भी मानें तो भी यह कहने में बिल्कुल अत्युक्ति न होगी कि विश्वंभर बाबा से ले कर बोल्होबा तक भगवद्भक्ति एक-सा करनेवाला कुल तुकाराम ऐसे सत्पुरुष को जन्म लेने के बिल्कुल योग्य था।

कनकाई का प्रथम पुत्र सावजी था। पुत्र-जन्म की लालसा स्त्रियों के चित्त में स्वभावतः ही अधिक होती है। बिल्कुल बचपन से ही गुड़ियों का खेल खेलने के समय ही से वह प्रतीत होती है। उस पर भी एक दो नहीं इक्कीस साल राह देख कर जिस पुत्र का लाभ हुआ हो, उस पुत्र लाभ का आनंद कौन वर्णन कर सकेगा? सावजी के जन्म से बोल्होबा और कनकाई दोनों बडे आनंदित हुए। सूने घर मे दीप जला। किसी ने कहा "देखो बच्चा कैसी चोर की सी नज़र से देखता है।" लड़के-संबंधी ये शब्द सुन माँ-बाप दोनों बोल उठे "नहीं, नहीं। चोर न कहो। हमारा लाल तो साव है।" बस, लड़के का नाम सावजी पड़ गया। सावजी तीन ही साल का था कि कनकाई फिर पेट से रही। कई दिनों की राह देख कर चातक को भी जब भगवान् जल देता है, तब केवल एक ही बूँद नहीं देता। फिर कनकाई-सी साध्वी स्त्री की इक्कीस साल राह देखने के बाद यदि भगवान् पुत्र दे तो वह भी एक क्यों? एक ही लडका जननेवाली स्त्री को भी संसार मे प्रतिष्ठा कहाँ? वह तो काक-वंध्या ही कहलाती है। वंध्यात्व का दुःख दूर हुआ तिस पर भी कनकाई को काक-वंध्यात्व का तो डर था ही। पर जब दूसरी बार वह गर्भवती हुई, तब तो उस के आनंद की सीमा न रही। उस का निश्चय हो गया कि यह सब श्रीविट्ठल भक्ति का तथा नामदेव जी के अभंग गाने का ही फल है। देर से क्यों न हो, पर आखिर भगवान् प्रसन्न तो हुए। इस कारण उस की विट्ठल-भक्ति बढ़ती ही गई। घंटों तक वह अपने विट्ठल-मंदिर मे भगवान् की ओर ध्यान लगा कर बैठने लगी। श्रीविट्ठल का नाम लेना, उसी के भजन गाना, उसी का पूजन करना, उसी की परिक्रमा देना इत्यादि बातों में कनकाई को आनंद आने लगा। श्रीनामदेव जी की ओर तो उस का प्रेम कई गुना बढ़ गया। महीपति ने अपने संत-चरित्र नामक ग्रंथ में यही बात रूपकालंकार से यों बखानी है। 'सायुज्यतामुक्तिरूपी स्वाति-नक्षत्र के समय कनकाई की उदर-शुक्तिका में नामदेव का प्रेम-जल गिरा और नवविध भक्ति के नौ महीने पूरे होने पर उस सीप मे से तुकाराम रूपी मोती पैदा हुआ।"

शिशिर ऋतु समाप्त होने को थी। जाडे की पीडा कम होने लगी थी। आगामी बसंत के शुभ-सूचक चिन्हों को प्रकृति धारण कर रही थी। दक्षिणाशा के कारण जो प्रतापशाली भानु निस्तेज हो गया था, वह शनैः-शनैः उत्तरापथ का आक्रमण करने के

लिए झुक कर अपनी सतेजता बढ़ा रहा था। ऐसे समय माघ महीने की शुक्ला पंचमी को अर्थात् वसंत पचमी के दिन शुभ मुहूर्त्त में श्रीतुकाराम महाराज का जन्म हुआ। रघु राजा के जन्मसमय का कालिदास महाकवि ने वर्णन किया है कि "दिशा विमल हुई। सुख-स्पर्श वायु बहने लगा। ऋषि-मुनियों के दिए हुर्विभाग को अग्निदेव अपनी प्रदक्षिण-ज्वाला से ग्रहण करने लगे।" तुकाराम के जन्म-समय भी शायद ऐसा ही हुआ होगा। क्योंकि इन सब शुभ-सूचक बातो का कारण रघु राजा के विषयो में जो कालिदास ने लिखा है, वह तो रघु की अपेक्षा श्रीतुकाराम महाराज के विषयों मे ही अधिक सत्य है। वह कारण कालिदास के मत से था कि—

भवोहि लोकाभ्युदयाय तादृशाम्

ऐसे लोगों का जन्म निश्चय पूर्वक ससार की उन्नति के लिए ही होता है। निःसदेह रघु राजा की अपेक्षा तुकाराम अधिक लोकाभ्युदय करने वाले थे। सारा महाराष्ट्र उन की प्रासादिक वाणी से उन्नत हुआ।

तृतीय परिच्छेद

तुकाराम का संसारसुख

देव भक्त को सुख न दे
दुखहि सदा बहु देत।
सुख में न फँसे, दुःख से
उन्नत हो, यह हेत॥

निसर्ग से एक वस्तु पैदा होती है। जब उस के गुणो से मानव-जाति को लाभ पहुँचता है, तब मनुष्य भी कृत्रिम उपायों से उस को उत्पन्न करने लगता है। ऐसी वस्तु के विकास-काल, विकास-क्रम इत्यादि विषयों का पूरा-पूरा लेखा मिल सकता है। पर निसर्गोत्पन्न किसी वस्तु का तो तब तक अस्तित्व ही ध्यान में नही आता, जब तक कि उस के गुणो से लुब्ध हो मनुष्य उस की ओर स्वय दौड़ कर न आवे। उदाहरणार्थ जब किसी बाग़ मे कोई माली आम का पेड़ लगाता है, तब वह लगाया कब गया, उस में पत्तियाँ कब फूटीं, बौर कब आया, उस मे फल कब लगा, उन की सख्या क्या थी, उन में से गले कितने, पके कितने, उन के बेचने से कितनी आय हुई इत्यादि सब बातो का पता चल सकता है। परतु जब कि नैसर्गिक बन में एकाध रसीला आम फूलता-फलता है, तब तो उस की पहिचान ही तब होती है जब कि भाग्यवश कोई पुरुष उस के बौर की सुगंध से या फल के रस से लुब्ध हो उस की ओर दौडा आता है। उस के विषय मे यह प्रायः अज्ञात ही रहता है कि उस की पहचान के पूर्व उस की क्या स्थिति थी। इस हालत का जानकार

कोई माली नहीं रहता। उस का पता तो इधर-उधर से आने-जाने वाले लोगों से पूछा-पाछी कर या उस ग्राम की अन्य बातो से अनुमान कर के ही लगाया जाता है। अर्थात् ये सब बाते कई अन्य आगतुक कारणो पर निर्भर रहती हैं। हमारे सौभाग्य से यदि उन में से कुछ समझ मे आ जावे तो अच्छा ही है। अन्यथा उस के विषय में ऐसी बातो की अपेक्षा उस के सौरभ या रस का ही सेवन करना उचित है। अपनी उज्ज्वल कीर्ति से सपूर्ण ससार को प्रकाशित करनेवाले और पूर्वजो के गुणो से प्रसिद्ध नहीं, प्रत्युत पूर्वजों को तथा वशजों को अपने ही गुणो से प्रसिद्धिपात्र करनेवाले श्रीतुकाराम महाराज के-से सत्पुरुषो के विषय में भी यही हाल है। ससार मे इन की प्रसिद्धि होने से पहले का इन का चरित्र बहुत ही थोड़ा ज्ञात है। फिर भी श्रीतुकाराम महाराज के विषय मे कई आधारों से जो कुछ थोडी बहुत बाते मालूम हैं उन का वर्णन करना चरित्र-लेखक का आद्य कर्तव्य है। क्योंकि इन्हीं बातो के कारण अग्रिम चरित्र की कई बातो का रहस्य खुलता है। इस परिच्छेद में वर्णन करने के लिए तुकाराम के जीवन का वही काल विभाग चुना है जिस में सासारिक दृष्टि से लोग जिसे सुख कहते हैं, उस की प्राप्ति तुकाराम को हुई। यह काल-विभाग बहुत बड़ा नही है। इस का मान केवल सत्रह वर्षो का है। थोडा बहुत खीच कर इसे इक्कीस साल का कर सकते है। पहले सत्रह साल मे तुकाराम का सासारिक दुःख से परिचय ही न था। सत्रहवे वर्ष उन के घर में दो मृत्यु हुई। एक इन के पिता जी की और दूसरी इन की भावज की। अठारहवे साल इन के बड़े भाई घर छोड़, विरक्त हो, तीर्थयात्रा करने चले गए। इस के बाद दो साल तुकाराम महाराज ने अपनी बिगड़ती हुई गिरस्ती सँभालने की दिलोजान से कोशिश की पर नाकामयाब हो उन्हे दिवाला निकालना पड़ा। बस, यहाँ से इन के दिन सासारिक दृष्टि से फिरे, परतु परमार्थिक दृष्टि से ऐसा कहने में कुछ बाधा नहीं कि उन के असली चरित्र का यही से आरभ हुआ। इन्ही बातों का इस परिच्छेद में वर्णन किया जावेगा।

तुकाराम का बाल्य बडे सुख में बीता। ये अपने माता-पिता के बड़े लाड़ले थे। वैसे तो सभी लड़के माता-पिता को प्रिय रहते हैं। पर जब स्त्री-पुरुष के मन में सतान न होने की इच्छा हो या कम से कम सतान होने की अभिलाषा न हो, तब उपजे हुए सतान के प्रति उन का उतना प्रेम नही रहता जितना कि उस सतान के प्रति माता-पिता के मन में रहता है, जिस की प्राप्ति सतान-रहित होने का दुःख ध्यान में आने के बाद ईश्वर की कई बार की हुई मनौतियो के कारण उन्हें होती है। ज्येष्ठ पुत्र सावजी तो पिता का बडा प्यारा था ही। पर तुकाराम भी कुछ कम न था। तुकाराम के जन्म से मानो दोनो माता-पिता का प्रेम ठीक दो जगहों मे बाँटा गया। इन दो लडको के लिए जो-जो कष्ट उठाने पड़ते, उन्हे बोल्होबा और कनकाई दोनों बडे सुख से सहते। तुकाराम महाराज के अभगों से भली भाँति जाना जाता है कि उन्हें माता के प्रेम का ख़ूब अनुभव था। माता इन की ख़ूब ही खबरदारी लेती थीं। इन्हे छोड उन्हें खाना भी अच्छा नही लगता था। भूख के मारे रोने के पहले ही वह इन्हे दूध पिलाती और खेल में ये यदि भूख भूल जाते तो भी इन्हें समझा कर खिलाती। इन के दुख से उन का चित्त ऐसा छटपटाता मानो भाड़ में पड़ा हुआ

जवार का दाना हो। इन का वही सुख उन का सुख था। वह इन्हे तरह तरह के कपडे और गहने पहनातीं और प्रेमभरी आँखो से इन्हे देखते न अघाती। फिर एक दम से 'अति स्नेहः पापशकी' के न्याय से खुद अपनी ही नजर पडने के भय से पैरो पर बिठा काजल का टीका लगाती और डीठ निकालती। मातृ-प्रेम के इन सब प्रकारों का वर्णन तुकाराम के अभगों मे पर्याप्त पाया जाता है।

तुकाराम का लाड़ करने के लिए केवल माता-पिता ही नहीं, वरन् इन का बड़ा भाई सावजी भी था। पर तुकाराम किस का लाड़ करे ? ईश्वर ने शीघ्र ही इन्हें लाड़ करने के लिए एक छोटा भाई भेजा। कनकाई का यह पुत्र हुआ। उस समय तुकाराम पाँच वर्ष के थे। जिस घर में १६०५ तक बोल्होबा और कनकाई दो ही मनुष्य थे उसी घर में आठ साल के भीतर भगवान् की दया से तीन पुत्र खेलने लगे। मँझला भाई होने का दुःख कई जगह लिखा है। ऐतरेय ब्राह्मण के शुनः शेपाख्यान में जब अजीगर्त ऋषि पर लड़का बेचने का प्रसंग आया, तब पिता ने बडे और माता ने छोटे लड़के को बेचने से इन्कार किया। हरिश्चंद्र के यहाँ उस समय बलिदान दिए जाने के लिए बेचारे मध्यम पुत्र पर ही प्रसग आया। रामायण में तथा भासकृत मध्यम व्यायोग में भी यही बात वर्णित है। पर तुकाराम के अभंगो से जान पड़ता है कि उन्हे मँझोला भाई होने का केवल सुख ही मिला। बडे बेटे को हमेशा बड़ा ही रहना पड़ता है और सब से छोटा भाई कभी सब से बड़ा भाई नहीं हो सकता। पर बीच के भाई को बड़ी मौज रहती है। मन माने तब वह बड़ा बन छोटे को दबकाता है और दिल चाहे तब छोटा बन बड़े भाई की चीजे हठ से छीन सकता है। तुकाराम को यह सुख बचपन में ख़ूब मिलता रहा। इन के छोटे भाई को दादा का ही नाम अर्थात् कान्होबा का ही नाम दिया गया था। सावजी, तुकाराम और कान्होबा तीनों बालक बडे आनद से दिन बिताते और इन की बाल-लीलाएँ देख बोल्होबा और कनकाई अपने को बडे सुखी और कृतकृत्य समझते।

तुकाराम के अभगों से जान पडता है कि बचपन में तुकोबा बड़े खिलाड़ी थे। अपनी उम्र के लड़कों को इकट्ठा कर ये कई खेल खेलते। प्रायः उन सब खेलों पर जो महाराष्ट्र में उस समय प्रचलित थे, इन्हों ने रूपक बना कर अभंग रचे हैं। इन अभगों से उस समय के खेलों का अच्छा ज्ञान होता है—विशेषतः उन खेलों का, जो तुकाराम प्रायः खेला करते। तुकाराम का सब से प्रिय खेल 'टिपरी' जान पड़ता है। इस खेल में १३ या १७ खिलाड़ी रहते जो दो पक्ष में बाँटे जाते। बचा हुआ लड़का बीच में खड़ा रहता और गाता। उस गाने के ताल पर अपने हाथो में टिपरियों से—ताल देने के लिए छोटे-छोटे लकड़ी के डडो से—ताल देते हुए, उस बीच के लड़के के चारों ओर चक्कर लगाते। चक्कर के हर एक लड़के के दोनों ओर उस के प्रतिपक्ष के लड़के रहते। जो कोई ताल देने में चूकता, उसे बीच में खड़ा होना पड़ता और बीच का लड़का उस का स्थान लेता। इस खेल का कौशल टिपरियों से एक नाद में ताल बजाने और ताल के साथ पैर उठाने में है। दूसरे खेल का नाम 'विटीदाडू' है। उत्तर हिंदुस्थान के 'गिलीडडे' का-सा यह खेल था। दांडू याने डंडा और विटी याने गिल्ली। यह खेल कर्नाटक की ओर से आया। इस

खेल में जिन बकट, लेंड, मूड इत्यादि शब्दों का प्रयोग होता है और जिन के अनुसार शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानो पर मे गिल्ली डंडे से मारी जाती, वे शब्द कर्नाटकी की भाषा के एक, दो, तीन इत्यादि सख्या के दर्शक शब्द हैं। तीसरा खेल 'चेड्डकली'। इस खेल मे एक लकड़ी की पट्टी से गेद उछाला जाता है और बाक़ी खिलाड़ी उसे ढूँढते हैं। जो ढूँढ लाता है उसे उछालने का हक़ मिलता है। 'हाल' नाम का खेल तुकाराम के समय में और खेला जाता था। इस मे दोनो तरफ के खिलाडी अपना-अपना नाम रख लेते। उदाहरणार्थ एक पक्ष के खिलाड़ी अपने को तिल कहने तो दूसरे पक्ष के चावल। फिर एक की आँखे बाँधी जातीं। यह दूसरे खिलाड़ियो मे से किसी को छूता और साथ ही यह बताता कि वह तिल है या चावल। यदि ठीक बताता तो छुए लड़के की आंखे बाँधी जातीं, अन्यथा पहले को फिर खेलना पडता। 'हुँबरी' और 'हुमामा' नामक और भी दो खेल थे। पहले मे नाक से साँस नीचे छोड़ते कहा जाता था 'हु: हु: हु:' और दूसरे में साँस ऊपर को फेंकते कहा जाता 'ह ह ह'। दोनो खेलो मे यही जाँच की जाती कि किस खिलाड़ी की साँस जल्दी टूटती है। जिस पक्ष के खिलाडी की साँस टूटती उस का स्थान उसी पक्ष का दूसरा खिलाड़ी लेता। अंत मे जिस खिलाड़ी का पक्ष रहता, वही जीतता। 'मृदगपाटी' या 'आटी-'पाटी', 'खोखो' और 'हुतूतू', तीनों खेल तो महाराष्ट्र मे आज भी खेले जाते हैं। क्रिकेट, फ़ुटबाल, हॉकी इत्यादि विदेशी खेलो के साथ-साथ इन देशी खेलो की भी मैचे महाराष्ट्र की शाला-पाठशालाओ में होती रहती हैं। आज जिस सुनियमित रीति से ये खेल खेले जाते हैं, उसी रीति से यद्यपि तुकाराम के समय ये नहीं खेले जाते थे; पर खेलने की सामान्य पद्धति वही थी, जो आज है। 'कुरघोडी' नाम का भी खेल उस समय खेला जाता था। इस में एक ओर के खिलाड़ी एक दूसरे की कमर पकड़ एक के पीछे एक घोड़े की नाईं खड़े रहते और दूसरे पक्ष के खिलाड़ी इन घोडो पर कूद या लबी उछाल ले कर सवार की नाईं चढ़ बैठते। छोड़े हुए खिलाड़ी अपना बदन हिला कर सवारों को गिराने का तथा ऊपर के सवार घोडो पर जम बैठ कर उन्हे थकाने का प्रयत्न करते। थक जाने का निदर्शक शब्द कुर था, जिस के कहते ही उस घोडे के पीठ पर से सवार उतर जाते।

ऐसे खेल-कूदो में तुकाराम का बचपन देखते-देखते निकल गया। साथ ही साथ बोल्होबा इन लड़को को लिखना-पढना, हिसाब लगाना, जमा-खर्च लिखना इत्यादि भी पढाया करते। तुकाराम की बुद्धि इधर भी कम न थी। पर सावजी को इन सब बातो से एक तरह की नफरत-सी ही थी। माँ-बाप के साथ भजन करना, अभंग गाना इत्यादि में ही उन्हे अधिक आनद आता था। पिता के लाड़ले होने के कारण पहले-पहल इन के पढ़ने-लिखने की ओर जरा दुर्लक्ष हुआ जिस का फल यह हुआ कि सावजी पढने-लिखने में विशेष प्रगति न कर सके। बचपन से ही उन का मन विरक्ति की ओर झुका हुआ था। बोल्होबा ने विचार किया 'यदि इस का विवाह हो तो सभव है इस का चित्त ससार की ओर आकृष्ट हो।' यह विचार कर सावजी का विवाह उन्हो ने उस के पद्रहवें वर्ष में ही कर दिया और विवाह की हल्दी भी पूरी छूटने न पाई थी कि एक दिन उसे पास बुला कर उस के गले में ससार के काम डालने का अपना मनोदय उस पर व्यक्त किया। सावजी ने बड़ी नम्रता से पर

निश्चय-पूर्वक स्वर से जवाब दिया। "पिताजी, मेरा मन तो संसार में बिल्कुल नहीं लगता। मन में आता है कि घर छोड़ तीर्थ यात्रा के लिए जाऊँ और इस मनुष्य-देह को सार्थक करूँ।" पिता ने बहुत प्रकार समझाया पर सावजी ने अपना कहना न छोड़ा। ईश्वर-भजन करने के लिए संसार के धंधों से बोल्होबा पूरा-पूरा छुटकारा चाहते थे। सावजी का उत्तर सुन उन का चित्त व्यथित हुआ, पर यह विचार कर कि यदि अधिक बोलूँ तो यह आज ही घर छोड़ कर भाग जाय, वे सावजी से कुछ न बोले। उन्हो ने तुकाराम को बुला कर उस पर अपनी इच्छा विदित की। तुकाराम की उम्र उस समय मुश्किल से तेरह वर्ष की थी। तुकोबा ने बोल्होबा की सब बाते सुनी और पिताज्ञा पालन करने का निश्चय किया। तुकाराम बडे मातृ-पितृ भक्त थे। उन्हो ने माता से पूछा और जब उस की भी वही इच्छा देखी तो माता-पिता को सतुष्ट करने के हेतु इस छोटे वय मे भी उन्होने पिता की आज्ञा मान्य की। बोल्होबा बड़े आनंदित हुए और उसी दिन से धीरे-धीरे एक-एक काम तुकाराम के सुपुर्द करना उन्हो ने शुरू किया।

तुकाराम बुद्धि मे कम न थे। बडी सावधानी से वे सब बातें समझ लेने लगे और दूकान तथा सावकारी का जमा-खर्च लिखने लगे। साल भर के भीतर-भीतर बही-खाते पर से अपनी लेन-देन तथा सापत्तिक स्थिति भली भाँति समझने तक तुकाराम की प्रगति हुई। इन की होशियारी से चकित हो हर एक आदमी बोल्होबा से कहता कि बोल्होबा लड़का तो बड़ा होनहार है। बाप का नाम अच्छी तरह से चलावेगा। लड़के की तारीफ सुन बोल्होबा के हर्ष का ठिकाना न रहता था। वे तुकाराम को साहूकारी के तथा दूकान-दारी के रहस्य समझाने लगे। लेन-देन कैसे करनी चाहिए, रुपया उधार देते समय किन-किन बातो का ध्यान रखना चाहिए, खरीदी कब की जावे, माल किस भाव से बेचा जावे, अपना मुनाफा उस पर कितना चढाना चाहिए, खेती-बारी की ओर ध्यान कैसे देना चाहिए इत्यादि बाते बोल्होबा दक्षता-पूर्वक तुकाराम जी से कहते और उसी के अनुसार चल कर तुकाराम अपनी और अपने धंधे की उन्नति करते। अब तो सावजी से भी तुकाराम पर पिता का अधिक प्रेम जमने लगा। महाराष्ट्र भाषा के प्रसिद्ध कवि मोरोपंत कहते हैं "विद्या प्राप्त की, धन भी कमाने लगा, उस पर भी बाप का कहा माने और गिरस्ती का भार अपने सिर पर ले, वही पुत्र पिता को अधिक प्रिय होता है।" अब उन्हो ने बडे ठाट से तुकाराम की शादी की। बहू का नाम रखुमाई रक्खा गया। पर थोडे ही दिनो में यह समझने पर कि इस रखुमाई को साँस की बीमारी है, बोल्होबा बडे दुखी हुए। लड़के के गले में क्या आफत बाँध दी। इस बीमार लड़की के साथ उसे ससार-सुख क्या और कैसे मिले इत्यादि चिन्ताओं से बोल्होबा का जी व्याकुल होता। इन पिता-पुत्रो का और खास कर ऐसी छोटी उम्र में ऐसी चतुरता से और सावधानी से सब काम-काज सँभालनेवाले तुकाराम का नाम पूना प्रात के साहूकारों में ख़ूब प्रसिद्ध हुआ और साथ ही साथ इस विवाह की बात भी चारो ओर फैलने लगी। इस हालत में पूने के अप्पाजी गुलवे नामक एक साहूकार ने अपनी अवली नाम की कन्या तुकाराम को देने का प्रस्ताव जब बोल्होबा के सम्मुख किया तो बोल्होबा ने यह मौका हाथ से न जाने दिया। उन्हों ने अप्पाजी का

कहना मान लिया और अपने वय के सोलहवे वर्ष में ही दूसरा विवाह कर के तुकाराम द्विपत्नीक हो गए। उन की इस दूसरी पत्नी का नाम जिजाई रक्खा गया।

इस के बाद के दो साल सासारिक दृष्टि से तुकाराम के जीवन मे परम सुख के थे। पिछले सुखपूर्ण जीवन-विभाग की बाते करते हुए श्रीरामचद्र के मुख से, पत्थर को भी रुलानेवाले भवभूति कवि ने कहलाया है कि "पिताजी के जीवित रहते नव-परिणीत स्त्री के साथ माताजी की देखभाल मे जो दिन हम ने सुख से बिताए, वे दिन अब फिर कभी न आवेगे।" श्रीतुकाराम जी के जीवन मे सुखपूर्ण ये दो साल जो बीते उन के विषय मे ठीक यही भवभूति की उक्ति जमती है। केवल दो ही साल माता, पिता, भाई, भावज, पत्नी इत्यादिको से भरे घर मे श्रीतुकाराम महाराज ने सुख प्राप्त किया। इसी समय रखुमाई से इन्हे एक पुत्र-रत्न की भी प्राप्ति हुई। यह समझ कर कि सतों ही की कृपा से यह सब वैभव प्राप्त हुआ, बोल्होबा ने अपने नाती का नाम सताजी रक्खा। अब बोल्होबा को कमी क्या थी? घर में अनुकूल स्त्री, किसी बात की कमी नहीं, विद्या-विनय इत्यादि गुणों से युक्त पुत्र और तिस पर भी पुत्र को पुत्र हुआ! फिर यदि किसी सस्कृत कवि के कथनानुसार बोल्होबा के मन मे आने लगा कि अब 'सुरवरनगरे किमाधिक्यम्'—अब स्वर्ग मे क्या अधिक सुख है, तो आश्चर्य ही क्या? पर जान पडता है कि देवो से यह सुख न देखा गया और मानो यह दिखलाने के लिए कि स्वर्ग मे क्या विशेष है, वे बोल्होबा को मृत्युलोक से उठा कर स्वर्ग ले गए। उन की उम्र हो चुकी थी। सब प्रकार के सुखों का भी उन्हों ने उपभोग लिया था। इस लिए वास्तव मे उन की मृत्यु अशोच्य ही थी। पर कहावत है कि 'बूढ़े के मरने का डर नही पर काल घर देख जाता है'। और तुकाराम के विषय मे यह कहावत बिल्कुल ठीक निकली। जिस काल ने आज लगभग चालीस साल तक बोल्होबा के घर मे प्रवेश नहीं किया था, वही काल सन् १६२५ में केवल बोल्होबा ही को न उठा ले गया, पर कुछ ही दिन बाद सावजी की पत्नी को भी ले गया।

पिता की मृत्यु से तुकाराम बडे दुखी हुए। जिन्हे सतुष्ट करने के हेतु उन्हो ने ऐसी छोटी उम्र में इतना भार अपने सिर पर लिया था, दिनरात कष्ट उठा कर सब प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक क्लेशों को सहा था, उन के चले जाने पर तुकाराम पर तो मानों आकाश ही फट गया। सिर पर सभालनेवाला अब कोई न रहा। बडे भाई की तो बात ही क्या? वे तो पहले ही से फक्कड़ थे। घर मे रहे तो केवल पिता के अनुरोध से। उन का दिल तो ससार मे था ही नहीं। अब तो पिताजी का भी काल हो गया और पत्नी के मरने से विवाह की भी पैरों मे से बेडी छूटी। अब कोई ऐसा पाश न था जो सावजी को घर में रक्खे। उन की उम्र तो वैसे बहुत बडी न थी। आजकल तो बीस वर्ष के लडको के क्या कई लडकियो के भी विवाह नही होते। यद्यपि वे दिन दूसरे थे तथापि चाहते तो वे फिर विवाह कर सकते थे पर उन्हे ससार की परवाह ही कहाँ थी। कालिदास के कथनानुसार वे उन मूर्ख पुरुषों मे से एक न थे जो अपने प्रियजन की मृत्यु को हृदय में चुभे शल्य सा समझते हैं, प्रत्युत वे उन विद्वानो मे से एक थे जो अपनी स्थिर बुद्धि के कारण प्रीति को इस ससार में मनुष्य को जकड़नेवाली कील समझते हैं और जो प्रियजन का

नाश होते ही समझते हैं कि वही कील सुलभतया उखाड़ कर वे संसार-पाश से मुक्त हो गए। यही समझ कर सावजी ने तुकाराम और अपनी माता से तीर्थ करने की अनुज्ञा ली और वे घर से बाहर निकल पड़े। वे फिर कभी घर में आए ही नहीं। ओंकारेश्वर, नागनाथ, वैजनाथ, सोमनाथ, काशी विश्वेश्वर, महाकालेश्वर, गोकर्णेश्वर, केदारेश्वर, त्र्यंबकेश्वर, भीमाशंकर, महाबळेश्वर और रामेश्वर का दर्शन कर वे आखिर वाराणसी जा कर रहे और वहीं उन्हों ने अपना शेष जीवन व्यतीत किया।

पाठक स्वयं इस बात का विचार कर सकते हैं कि पिता और बड़े भाई के छूट जाने पर तुकाराम की क्या अवस्था हुई होगी। जन्म से इन्हें दुःख का नाम भी ज्ञात न था। पर जब वह आया तब इस प्रकार से। दुःख के बाद सुख की प्राप्ति ऐसी मालूम होती है जैसे अँधियारे के बाद रोशनी। पर सुख के अनंतर जब दुःख उठाना पड़ता है, तब तो बड़ी मुश्किल ही है। खरे धीरजवाले पुरुष की परीक्षा इसी समय होती है। तुकाराम जी इस परीक्षा में पूरे धीरज के उतरे। उन्हों ने अपने सब काम बड़ी सावधानी से ठीक-ठीक सँभाले। केवल इतना ही नहीं छोटे भाई कान्होबा का विवाह भी उन्हों ने इसी समय किया। यह विवाह बड़े ही समारोह से किया गया। सचमुच कहा जाय तो तुकाराम जी ने इस विवाह में वाजबी से अधिक खर्च किया। पर तुकाराम जी करें क्या ? वे बेबस थे। पिता के पश्चात् किया हुआ यह प्रथम कार्य। माता कनकाई अच्छे दिन देखी हुई और पत्नी जिजाई तो धनवान की ही पुत्री। सास-बहू दोनों की इच्छा के अनुसार खर्च होता था। स्त्रियों को ऐसे प्रसंगों पर इस बात का विचार थोड़े ही रहता है कि कितना खर्च किया जाय। तुकाराम जी की अवस्था बड़ी कठिन थी। बाप की मृत्यु के बाद माता को कुछ कहना भी ठीक न था और यदि वे कहते भी तो माता मानती कब ? खर्च करने के विषय में जिजाई की आँखें तो पहले ही से बड़ी थीं। फिर यदि विवाह में फ़जूल खर्च न हुआ हो तो ही आश्चर्य था। और सच पूछो तो संसार से अनभिज्ञ तुकाराम को खुद भी इस बात का ठीक ठीक पता कहाँ था कि कौन-सा खर्च आवश्यक है और कौन-सा व्यर्थ।

जान पड़ता है कि दुनियादारी की बातें मालूम न होने के कारण तुकाराम को भी अपनी सांपत्तिक स्थिति का ठीक-ठीक अंदाज न था। क्योंकि अगर यह होता तो दूसरे ही साल और बड़े खर्च का जो काम उन्हों ने किया, वह वे कदापि न करते। यह काम था माता को साथ ले तीर्थ करना। कनकाई को पंढरपुर की यात्रा का आनंद प्रत्यक्ष ही ज्ञात था। नामदेव जी के तीर्थावलि के अभंगों पर से तीर्थ-यात्रा का आनंद उसे शब्दों में भी विदित था। और अब तो क्या ? प्रत्यक्ष पुत्र ही तीर्थयात्रा के आनंद में घर भूला हुआ था। इस अवस्था में अचरज ही क्या यदि तीर्थ नहाने की और देवों के दर्शन करने की अभिलाषा कनकाई के मन में पैदा हो। माता के अनुरोध से मातृ-भक्त तुकाराम महाराज जननी को साथ ले तीर्थ-यात्रा के लिए निकले। सब से प्रथम समुद्र-मार्ग से वे द्वारका गए। वहाँ भगवान के दर्शन कर गोदावरी तीर नासिक-क्षेत्र आए। पास ही त्र्यंबकेश्वर में निवृत्तिनाथजी के समाधि-स्थान का दर्शन किया। आगे चल कर गोदावरी तीर पर ही पैठण पहुँचे और श्रीएकनाथ जी के समाधि-स्थान पर उन्हों ने पूजा चढ़ाई। फिर मुक्ताबाई

का समाधि-स्थान मारणगाँव में देख कर वे देवगिरी गए जहा उन्हों ने एकनाथजी के गुरु जनार्दन स्वामी की समाधि देखी। ऐसे घूमते-घामते तीर्थराज प्रयाग पहुँचे। यहाँ के गगा-यमुना सगम में स्नान कर कौन पुनीत न होता? त्रिवेणी के तट पर कुछ दिन ठहर श्रीतुकाराम महाराज गया पहुँचे और विष्णुपद पर पितरो के नाम पिंड दे कर उन के ऋणों से मुक्त हुए। सब से अत मे वे काशी गए और मणिकर्णिका का स्नान कर श्रीविश्वनाथ की उन्हों ने पूजा की। इस प्रकार यह लबी यात्रा समाप्त कर और पास जो कुछ पूँजी थी वह खर्च कर सन् १६२७ के अत में वे देहू लौटे और फिर से अपना काम सँभालने लगे।

महाराष्ट्र के छोटे-छोटे गांवो की साहूकारी बड़ी कठिन है। थोडे दिन भी दूकान बद रहे तो दूसरा कोई उस के स्थान मे जम जाता है। यहाँ के सामान्य लोग बहुत गरीब होते हैं इस कारण साहूकार के बिना उन का चलता ही नहीं। इस लिए थोडे दिन की अनुपस्थिति भी साहूकार के लिए बड़ी हानिकारक होता है। फिर उपर्युक्त लबी यात्रा के लिए जो दीर्घकाल लगा उस के बाद यदि तुकाराम को अपनी दुकान बिगड़ी मिली तो आश्चर्य क्या? फिर भी बड़ी दूकानदारी करनेवाले लोगों को एक यह भी आपत्ति रहती है कि उसी स्थान पर वे छोटी-सी दूकान नही चला सकते। ऐसा करने में लोक-लाज आड़ आती है। तुकाराम जी को यद्यपि जान पडा कि अपनी सापत्तिक स्थिति बिगड़ी है, तथापि वे करें क्या? बीस साल की उम्र, दुनियादारी के दाँवपंच से बिल्कुल अनजान, सचाई की घर की नसीहत और आदत और जिस वृत्ति में पद-पद पर झूठ का काम पड़े ऐसे खोटे लोगों से भरी वैश्य-वृत्ति। उन का जी अकुला उठा। बाहर की बनी-बनाई बात सँभालने के लिए अदर की बात बिगडने लगी। घर के गहने बज़ार देखने लगे। उसी में दैव भी प्रतिकूल हो गया। काल फिरता है तो सभी बाते फिरती हैं। खेती के बैल मर गए और एक-दो अच्छे देनदारो की मृत्यु हुई। जो काम हाथो में लें उसी में घाटा पड़ने लगा। अत में क़र्ज़ा निकालना पडा। ससुरे की सिफारिश से क़र्ज़ा निकाला, पर कुछ नहीं हुआ। जिधर देखो उधर नुक़सान ही नुकसान नजर आने लगा। दुनिया तो दुरगी ही ठहरी। जो लोग कुछ साल पूर्व तुकाराम जी की तारीफ करते थे वे ही अब उन का मजाक उडाने लगे। लेनदारो का भरोसा उठ गया और सबों ने अपने-अपने क़र्ज की रकम माँगना शुरू किया। सबों को एक ही समय दिया कहाँ से जाय? अत में एक दिन दिवाला निकला। हाय! दिवाले से बढ कर इज्जतदार आदमी को दूसरी कौन-सी बात दुखदाई हो सकती है? इस से तो मौत भी बेहतर। असली मौत तो केवल देह को ही बिगाडती है पर यह मौत तो केवल शरीर से भी भली कीर्ति को भी कलकित कर देती है। हो गया, तुकाराम का ससार सुख इस प्रकार समाप्त हुआ!

चतुर्थ परिच्छेद

तुकाराम विरक्त कैसे हुए ?

दुख विरक्ति का मूल है
शाखा पश्चात्ताप ।
ईश भक्ति का पुष्प है
फल है मुक्ति अपाप ॥

गत परिच्छेद में हम लिख चुके हैं कि तुकाराम महाराज की दूकान का दिवाला कैसे निकला । जो लोग पहले ही तुकाराम की निंदा करते थे, उन के बोलने की तो अब सीमा न रही। तुकाराम जी को मुँह दिखलाने के लिए भी स्थान न रहा। दुनिया की अनेक आपत्तियों में 'सब से प्रबल जाति अपमाना' की आपत्ति से तुकाराम महाराज के सांसारिक दुःखों का आरंभ हुआ । यहाँ से उन की दुःख-परंपरा बढ़ती ही गई और इसी कारण तुकाराम जी का मन संसार से ऊब उठा और उन्हों ने परमार्थ का पथ ग्रहण किया ये दुःख यदि उन पर न आते, तो तुकाराम का जीवन अन्य सामान्य मनुष्यों की नाई व्यतीत होता और आज जो महाराष्ट्र भर में इन के नाम का डंका बज रहा है, वह न बजा होता।

दुःख में एक बडा भारी गुण है। वह सुख की निःसारता दिखाता है। जिस सुख के लिए मनुष्य का मन छटपटाता है, जिसे मिलाने के हेतु वह दिन की रात और रात का दिन करता है, वह सुख शाश्वत नहीं है। प्रायः वह सुख मिलता ही नहीं

और यदि मिलता भी है तो उस के उपभोग के आनद की इद्रियों को प्राप्ति होते-होते ही वह अदृश्य होने लगता है। ससार के सुखो की निःसारता इस प्रकार समझ पडती है और निःसारता समझने से उन के प्रति आसक्ति नही रहती। ऐसे असार सुख मिलाने के लिए फिर मनुष्य भले-बुरे काम करने को तैयार नही होता अर्थात् उन के विषय में विरक्ति उत्पन्न होती है। वह विरक्ति हर एक मनुष्य के जीवन में एक न एक समय अवश्य उत्पन्न होती है। केवल दुःख की बात यही है कि यह भावना बहुत काल ठहरती नहीं। अमलतास के मीठे बीज खा कर जुलाबो से पीडित बदर की तरह मनुष्य ये बुरे काम न करने का निश्चय प्रति दिन करता है, परतु इद्रियों का और उन के उपभोग विषयों का सन्निकर्ष होते ही धीरे-धीरे अपना निश्चय भूल कर फिर वही कर्म करने लगता है। वैराग्य इस प्रकार उपजता है और फौरन ही नष्ट भी होता है। जो सत्पुरुष दुःख के कारण से पूरे पूरे विरक्त हो जाते हैं और फिर कभी उन सासारिक सुखों की ओर जरा भी नहीं देखते, वे ही श्रीतुकाराम महाराज की-सी ससार में प्रसिद्धि पाते हैं और उन्ही के चरित्र-चित्रण करने के हेतु लेखको की लेखनी अपना मुँह काला कर के भी लेखन में प्रवृत्त होती है।

दिवाला निकलने के दुःख मे तुकाराम महाराज दुखी अवश्य हुए पर सांसारिक सुखों की ओर से पूर्णतया मुँह मोड़ने के लिए केवल इतना ही दुःख पूरा न पड़ा। आज तक क्या कम लोगों के दिवाले निकले हैं, या आज भी हर साल सैकड़ों लोग क्या अपना दिवाला नही निकालते ? पर इन के पैसे के दिवाले के साथ ही इन की सारासार-बुद्धि या विवेक का भी दिवाला निकल जाता है। तुकाराम महाराज का दिवाला निकलने में उन का दोष बहुत ही कम था। उन्हों ने अपना कर्तव्य-पालन करने में त्रुटि न की थी। इस लिए दिवाला निकलने के बाद फिर से वे छोटी-सी दाल-आटे की दूकान ठाट कर अपना काम करने लगे। इस के बाद की आपत्तियाँ यदि उन पर न गिरतीं तो बहुत सभव था कि अपनी मिहनत और सचाई से वे अपनी पूर्वस्थिति शीघ्र ही प्राप्त कर लेते। परंतु दूसरे ही साल उन पर एक ऐसा संकट आया जिस के कारण अपनी बिगड़ी गृहस्थी सुधारने की उन की आशा मूलतः नष्ट हो गई और उन का चित्त सांसारिक सुखों से पूर्णतया उठ गया।

यह आपत्ति एक घोर अकाल के रूप में आई। जिस साल उन का दिवाला निकला था उसी साल बरसात बहुत कम हुई। इस लिए सभी चीजें महँगी हो रही थीं। पर दूसरे साल अर्थात् सन् १६३० में मेघराज ने अपनी आँखें बिल्कुल ही मूँद लीं जिस कारण से महाराष्ट्र भर में हाहाकार मच गया। यह वर्ष महाराष्ट्र के इतिहास में बड़े भारी अकाल के कारण प्रसिद्ध है। उस साल बारिश बिल्कुल ही न हुई। हरे घास का दर्शन भी दुर्लभ हो गया। जानवर मरने लगे। जो कुछ बचे उन मे हड्डियो के सिवाय और कुछ न बचा। पानी पीने के लिए भी पर्याप्त न रहा। अनाज का भाव एक होन को चार सेर यानी आज के हिसाब से रुपया सेर हो गया। अनाज के दाने-दाने के लिए लोग तरसने लगे। रोटी के टुकड़े के लिए जानवर बेचे गए। मवेशियो की तो बात ही क्या, हज़ारों

माताओ ने अपनी गोद के बच्चे तक बेच डाले। सब तरह के फल और मूल कूट-कूट कर आटे में मिलाए गए। और तो क्या, हड्डियो को भी कूट-कूट कर लोगों ने आटे में मिलाया। अबदुल हमीर लाहौरी अपने बादशाहनामे मे इस अकाल का बयान करते-करते हुए लिखता है कि "आखिरकार अकाल इस हद को पहुँचा कि आदमी आदमी को खाने लगे। पुत्र-प्रेम छोड कर अपने बच्चो को खाने मे भी लोगों ने कमी न की। जिधर देखें उधर लाशों की ढेर नजर आने लगी।" श्रीसमर्थ रामदास स्वामी जी ने भी इस दुर्भिक्ष का यो वर्णन किया है कि "जमीन के सिवाय और कुछ बाकी न बचा। (अर्थात् जमीन पर जितनी चीजें दीखती, वे सब लोग खा जाते, केवल मिट्टी बाकी बचती।) लोग अपना स्थान छोड कर भागे। जो वही रहे, उन में से हजारों जगह की जगह पर ही मर गए। कुछ लोग स्वधर्म छोड़ विधर्मी बन गए। कई जहर खा कर और कई पानी में डूब कर मर गए। प्रेतों को न कोई जलाता न लाशो को कोई दफनाता। वैसी की वैसी ही पड़ी रहती।" उपर्युक्त वर्णनो से पाठक स्वय इस भयकर दुर्भिक्ष की सभावना कर सकते हैं।

इस भयकर अकाल में तुकाराम के दुःख की सीमा ही न रही। जहाँ बडे-बड़े साहूकारो की भी दुर्दशा हो गई, वहाँ बेचारे दाल-आटा बेचनेवाले तुकाराम की बात ही क्या? दिवाला निकल जाने से बाज़ार में उस की साख तो थी ही नहीं। अब तो उसे कोई अपने दरवाज़े पर खड़ा न करता। बाहर इज्ज़त नही, घर में खाने के लिए दाना नहीं। इस दुर्दशा में तुकाराम का सब कुटुब था। उस की प्रथम पत्नी रखुमाई सब से पहले भूख से मरी। पहले ही साँस की बीमारी से वह जर्जर थी। वह जानती थी कि उस के पास से तो तुकाराम को सुख की प्राप्ति थी ही नही, केवल था तो उस का भार ही तुकाराम के सिर पर था। एक पुत्र-रत्न दे कर वह पति के ऋण से मुक्त हो चुकी थी। इस लिए बहुत संभव है कि घर में जो कुछ दाना आता हो वह सब दूसरो को विशेषत: छोटे सताजी को दे, वह ख़ुद भूखी रहती होगी। अत में बेचारी ने एक दिन राम कह दिया। तुकाराम को पत्नी की इस मौत से बड़ा भारी दुःख हुआ। रखुमाई यद्यपि रोगिणी थी, तथापि स्वभाव से बड़ी सरल और मधुर थी। तुकाराम की उस पर बड़ी प्रीति थी। इस अकाल में तुकाराम ने उस की जो पुत्र-प्रीति देखी, उस का वर्णन उन्हों ने एक अभग में किया है। वे कहते हैं, "लड़का माता के प्रति निष्ठुर होता है, पर वह उस की ओर प्रेम से ही देखती है। खुद प्यास-भूख सब सहती है, पर उस को सतुष्ट रखती है। उस के दुख से घबरा कर अपनी जान देना चाहती है, और उस के नाम से दौड़ आ कर अपने प्राण छोड़ देती है।"

रखुमाई की मृत्यु के बाद सताजी के विषय में तुकाराम को बड़ी चिंता आ पड़ी। मातृहीन बच्चे को सँभालना सुलभ काम नहीं था। दिन भर तो किसी न किसी प्रकार कुछ न कुछ खाने को जुटाने की चिंता और रात में संताजी को सँभालने की फ़िक्र। लड़का हमेशा माँ का नाम ले कर रोता और तुकाराम के गले लग कर माँ के पास ले जाने का हठ धरता। इतने छोटे बच्चे की समझ ही क्या? अगर कोई कहता कि 'माँ देव के घर गई'

तो वह भी कह उठता कि 'मुझे भी वहीं ले चलो'। पर कोई उसे ईश्वर के यहाँ ले कैसे जावे ? उस के दुख को देख और माता के बिना उसे छटपटाता देख तुकाराम जी का मृदु हृदय पानी-पानी हो जाता। अत मे ईश्वर को ही उस पर दया आई और वही उसे माता की भेट करने के लिए उठा ले गया। अब तो तुकाराम के दुःख का ठिकाना न रहा। तुकाराम का प्रेम इन्ही माँ-बच्चे पर था। माँ के मरने से तो दुःख हुआ ही था, पर अब बच्चे के मरने से तो मानों जीवन-सर्वस्व ही नष्ट हो गया। जिस के हाथों से अपनी उत्तर-क्रिया की आशा करनी चाहिए उसी पुत्र का अत्यविधि करने का प्रसग तुकाराम पर आया। तुकाराम जी के धीरज की मानो ईश्वर सब प्रकार से परीक्षा ले रहा था।

कहते हैं कि मनुष्य पर जब सकट आ गिरते हैं, तब वे एक साथ ही आ गिरते हैं। प्रिय पत्नी और प्राणों से भी प्रिय पुत्र का दुःख तुकाराम जी भूले भी न थे कि काल-पुरुष ने इन पर और एक आघात किया। जो तुकाराम को ईश्वर-स्वरूप थी, जिसे संतोष देने के लिए तुकाराम दिन-रात यत्न करते थे, जिस ने उन का सब प्रकार पालन-पोषण किया था, जिस से विट्ठल-भक्ति का आनद प्राप्त होता था और जिस की सेवा तुकाराम अपना परम धर्म समझते थे, वह उन की प्रिय माता कनकाई उन्हे छोड़ स्वर्गलोक सिधारी। इस प्रकार एक वर्ष के भीतर तुकाराम के घर में तीन मौतें हुई। इस का परिणाम यह हुआ कि मानवी जीवन की नश्वरता तुकाराम भली-भाँति समझ गए। ईश्वर की भी मानो यही मनीषा थी। क्योंकि इस के बाद तुकाराम के जीते जी उन के घर में एक भी मृत्यु न हुई। इन सब दुःखो का असर नष्ट होने के बाद, इस जीवन-विभाग का सिंहावलोकन करते हुए तुकाराम जी के मुख से एक अभग निकला, जिस में आप ने इन सब मौतो का उल्लेख कर यह दिखाया है, कि हर एक मृत्यु का उन के मन पर क्या परिणाम हुआ था। आप कहते हैं, "जब पिता जी मरे, तब तो मुझे न कुछ ज्ञान था न ससार की कुछ फ़िक्र थी। स्त्री मरी तो बेचारी मुक्त हो गई। ईश्वर ने मेरा प्रीतिपाश छुड़ाया। लड़का मरा तो उस से भी अच्छा हुआ क्योंकि उस से मैं पूरा-पूरा प्रीति-रहित हो गया। जब अंत में मेरे देखते-देखते माता भी मर गई, तब तो सारी ही चिंता दूर हो गई। विठोबा, अब तो राज्य केवल तुम्हारा हमारा ही है। यहाँ अब दूसरे किसी का काम नहीं है।"

इस प्रकार पाँच ही साल के भीतर तुकाराम जी के सब सासारिक दुःखों की होली जल गई। जिस तुकाराम को अपनी उम्र के सोलहवें वर्ष तक दुःख की झलक भी न लगी था, वही तुकाराम पाँच वर्षो में सब प्रकार के सासारिक तापों से जल उठा। द्रव्य और मनुष्य दोनो की हानि हुई। पैसा गया, इज्जत भी गई और पिता, पत्नी, पुत्र और माता सदा के लिए ही छोड़ गई। घर में केवल तुकाराम और उन की दूसरी स्त्री जिजाई तथा कान्होबा और उन की स्त्री—इतने ही लोग रह गए। तुकाराम पर प्रेम करनेवाला कोई न रहा। यदि जिजाई मृदु स्वभाव की तथा प्रेमभरी होती, तो इस समय वह तुकाराम को अपनी मधुर, रसभरी वाणी से समझाती और ससार से कँदराया हुआ तुकाराम का मन पुनश्च ससार की ओर खीच लाती। पर जिजाई का स्वभाव बड़ा मानी, तीखा और कठोर था। धनी पिता की पुत्री और अपनी अपेक्षा ग़रीब घर में ब्याही हुई। जिजाई को प्रति

क्षण पिता के घर के सुखों की याद आती और साथ ही इस घर के दुःख दीखते। मन ही मन इन सुख-दुःखों की वह तुलना करती और विचार करती कि ये दुःख के दिन कैसे मिटें, और फिर सुख कैसे मिले। तुकाराम का चित्त ससार से उठता हुआ देख वह बड़ी दुःखी होती। इसी दुःख से वह तुकाराम को कठोर बातें कहती। हेतु यह कि तुकाराम का चित्त ठिकाने पर आवे। पर इस की कर्ण-कटु बातें सुन उन का जी बहलने के बजाय अधिक ही बहकता। स्त्री के तीखे भाषण सुन तुकाराम मन में बड़े दुखी होते और विठ्ठल-विठ्ठल कहते बैठ जाते। श्रीविठ्ठल के चरणों पर उन का मन एक-सा आसक्त कराने का पुण्य अधिकाश मे जिजाई ही को है। कई बार जिजाई के हृदय-भेदी शब्दो के कारण वे लजाते और धीरज बाँध कुछ न कुछ करने का निश्चय करते।

अत मे दूकान का काम कान्होबा के सुपुर्द कर, स्वय एक व्योपारी का गल्ला दूसरे गाँव को पहुँचाने का काम तुकाराम जी ने करने का निश्चय किया। बैलो पर बोरियां लादी गईं और बैलो को हाँकते-हाँकते तुकाराम महाराज घर से निकले। आखिरी दिन समय काटने के हेतु श्रीविठ्ठल का भजन गाना शुरू किया और गाते-गाते उसी में तुकाराम महाराज की लौ लग गई। पर इतने में या तो कोई एक बैल पर की बोरियाँ उड़ा ले गया या बैल ने ही वे कहीं गिरा दीं। मुक़ाम पर पहुँच कर देखने लगे तो एक बैल खाली। माल पहुँचाने का भाड़ा मिलने के बजाय उलटे बोरियो के दाम ही गाँठ से देने पड़े। बाहर लोग इन की बेवक़ूफ़ी की और इस विठ्ठल-भजन की हँसी उड़ाने लगे और घर में जिजाई जान खाने लगी। तुकाराम ने निश्चय किया कि अब ऐसी गाफ़िली न करनी चाहिए। पर अब इन्हें माल पहुँचाने के लिए देवे कौन? आखिर एक बार इधर-उधर से थोडा पैसा जमा कर इन्हो ने मिरच खरीदी और घाट के नीचे कोंकण में बेचने ले गए। कोंकण प्रांत महाराष्ट्र में सब से निर्धन है। सिवाय चावल के यहाँ और कुछ नहीं होता और वह भी इतना कि मुश्किल से छः महीने पूरा पडे। बाक़ी सब माल घाट पर से ही आता है। ऊपर का माल नीचे कोंकण में ले जा कर बेचने का काम हजारों घाटी लोग करते हैं। पर कोंकण के लोगो से व्यवहार करने में बडी चतुरता चाहिए। उन्हे तो एक-एक पैसा बडी कीमत का होता है और इसी कारण पैसे-पैसे का फायदा वे ताकते रहते हैं। तुकाराम-सा सीधा-सीधा आदमी उन के साथ व्यवहार कैसे करे? इन से मिरच का भाव पूछा गया। सचाई से दूकानदारी करनेवाले तुकाराम महाराज ने सच भाव बतलाया। खरीददार फौरन ताड गया कि मामला पोला है। घाट ऊपर की तौल और कोंकण की तौल में फ़रक रहता है। भाव और तोल दोनों में घोल दे कर उस उस्ताद ने इन्हे खूब ही फँसाया। साथ ही जो क़ीमत देनी थी वह नकद होनों में न दे सोने के रूप में दी। समझाया गया कि होनों की अपेक्षा उसी कीमत का सोने का कडा ले जाना कम धोखे का है। सीधे तुकोबा इस बात को मान सोने का कडा ले घर आए। पर देखते हैं तो कडे का ऊपरी भाग सोने का पर भीतर भरा पीतल। इस प्रकार इस व्यवहार में भी फजीहत के सिवाय कुछ हाथ न लगा। जिजाई ने वाक्पुष्पो से महाराज की ख़ूब पूजा की और उन्हे कई नेपथ्य पाठ पढ़ाए।

थोडे ही दिनों मे तुकाराम जी के एक लडकी हुई। उस का नाम काशी रक्खा गया। काशी का जन्म पूने में अपने नाना के घर मे हुआ। वहाँ तुकाराम के विषय में पिता-पुत्री में कई बाते हुई होंगी। अप्पाजी तो तुकाराम के विषय में बिल्कुल निराश ही हो बैठे थे। वे जान चुके थे कि सांसारिक बातों में जमाई पूरे बे-अकल हैं। पर उन के सामने जिजाई यह बात कैसे मानती? वह स्वय तुकाराम को मनमाना कहती पर दूसरों के, खास कर मायघर के लोगो के वे ही शब्द उसे बुरे लगे। तुकाराम की तरफदारी उस ने की, घर की कठिनाइयाँ बखानीं। अत में पिता ने फिर से व्यापार करने के लिए जिजाई के नाम से दो सौ होन कर्ज दिए। जिजाई ने घर आने बाद तुकाराम को बहुत कुछ समझा बुझाकर उस मूलधन का नमक खरीदा और तुकाराम को दूर कर्नाटक की ओर वह नमक बेचने भेजा। फिर से एक बार तुकाराम नमक लाद कर निकले। इस समय बडी सावधानी से तुकाराम जी ने वह नमक बेच कर सवाई मुनाफा मिलाया। दो सौ का माल ढाई सौ में बेचा। बडी खुशी में आनद से विठ्ठल का भजन करते-करते लौटे। रास्ते में एक जगह एक गरीब ब्राह्मण इन्हे मिला और उस ने इन्हे अपनी करुण कहानी सुनाई। उस की दुःख-पूर्ण कथा सुन कर इन का हृदय पसीज उठा। इन्हो ने स्वय दुःख का पूरा पूरा अनुभव लिया ही था। इसी कारण उस के दुख से ये दुखी हुए और पास का धन बहुताश में उस की आपत्ति दूर करने के लिए उसे दे दिया। घर आते समय फिर कोरे के कोरे रहे। जिजाई से सब हाल विस्तार-पूर्वक कह सुनाया। आप समझते थे कि वह भी यह बात पसंद करेगी। इस समय तो वे फँसे नहीं थे। कुछ खो भी नहीं आए थे प्रत्युत सत्पात्र को दान दे पुण्य ही जोड कर आए थे। पर जब जिजाई की भली-बुरी बातें सुनी तब आप समझे कि वह कृत्य जिजाई को पसंद न आया। जिजाई का भी क्या दोष था? और किसी का देना होता तो और बात थी। पर यह था बाप का देना। स्त्री को सब से बडा दुख होता है मैहर में अपने पति की बुराई सुनने का। अपने घर तो वह ख़ुद मजदूरी भी करती, पर घर की बात न खोलती थी। उस में भी इस समय डींग मार पिता के पास से पैसे वह लाई थी। उस ने तुकाराम को खूब ही बाते सुनाईं। तुकाराम भी गुस्से में आ गए और दोनो पति-पत्नी का ख़ूब झगड़ा हुआ। फल यह हुआ कि तुकाराम पूरे-पूरे विरक्त बन, घरवालों के विषय मे बेफ़िक्र बन गए।

तुकाराम महाराज ने अपने एक अभग मे इन सब बातों का जिन के कारण उन का चित्त ईश्वर-भजन में स्थिर हुआ, यथायोग्य वर्णन किया है। तुकोबा कहते हैं "हे देव विठ्ठल, बहुत अच्छा हुआ कि दिवाला निकल गया, बहुत अच्छा हुआ कि दुर्भिक्ष के कारण इतना दुःख हुआ। बडा भला हुआ कि स्त्री कर्कश स्वभाव की मिली, भला हुआ कि लोगों में फजीहत हुई। बडा अच्छा हुआ कि ससार में अपमान हुआ, अच्छा हुआ कि द्रव्य, पशु सब का नाश हुआ। ठीक हुआ कि लोकलाज की परवाह न की और भली-भाँति तेरी शरण आया। इन सब दुःखों के कारण जो पश्चात्ताप हुआ उसी से तेरा चिंतन एक-सा करता रहा और उसी के कारण यह ससार थूक-सा जान पड़ा।"

यहाँ पर तुकाराम के एक विशेष स्वभाव पर ध्यान देना अनुचित न होगा। इस का ज्ञान न होने के कारण तुकाराम के चरित्र पर कई लोगों की ओर से विसंगति का दोष लगाया जाता है। कई पाठकों को यह देख कर आश्चर्य मालूम होता है कि जिस तुकाराम का हृदय पराई पीर से दुखता था वही तुकाराम अपनी स्त्री के तथा पुत्रों के दुःख की ओर दुर्लक्ष कैसे कर सकता था। जो तुकाराम कामादि षड्विकारों को जीत चुका था उन्हीं को एक के पीछे एक छः अपत्य कैसे हुए। तुकाराम का सब से छोटा पुत्र तो इन के निर्वाण के बाद ही पैदा हुआ था। जो तुकाराम अपने शत्रुओं को भी दुरुत्तर करना उचित न समझता था, वही तुकाराम अपने अभंगों में बिल्कुल ग्राम्य और अश्लील शब्दों से अभक्त तथा दुराचारी लोगों को सीधी गालियाँ कैसे सुनाता था। इन सब बातों में से एक भी बात मिथ्या नहीं। पर इस की तुकाराम के टीकाकारों की-सी न तो निंदा करने की आवश्यकता है, न भक्तों का समर्थन करने की। इस ऊपरी विसंगति का कारण तुकाराम जी के स्वभाव में है। उन का स्वभाव विचार-प्रधान न था, किंतु भावना-प्रधान—अत्युत्कट भावना-प्रधान था। जो भावना जिस समय प्रबल होती थी उसी के अनुसार इन का वर्तन होता था। पिता को संतुष्ट करने की भावना जब प्रबल थी तब अपने छोटे वय का विचार न कर उन्हों ने संसार का भार अपने सिर ले लिया। माता को संतुष्ट करने की भावना में कान्होबा का विवाह तथा काशी-यात्रा में चाहे जितना रुपया खर्च करने में क़ुसूर न किया। उस समय यह विचार कि आगे क्या होगा इन के हृदय को स्पर्श भी न कर सका। जब तक कान्होबा छोटे थे और सब का भार सिर पर होने की भावना प्रबल थी, सब प्रकार के दुःख सहन किए और स्त्री की भी भली-बुरी बातें सुन लीं। पर जिस समय यह भावना उठी "कि अब इतना दुख सहने की आवश्यकता नहीं, कान्होबा सब सँभाल सकेंगे, मुझसे ये सांसारिक काम ठीक न होंगे, बेहतर है कि अब ईश्वर भजन ही करें" उठे और चल दिए। तुकाराम के चरित्र का यह रहस्य है और यह उन के चरित्र के पद-पद पर दिखाई देता है। इस में संदेह ही नहीं कि तुकाराम महाराज ने काम-क्रोध लोभादि षड्रिपुओं पर विजय प्राप्त कर लिया था। पर इस का यह अर्थ न समझना चाहिए कि उन के ये विकार पूर्णतया नष्ट ही हो गए थे। जिस समय ये महाराज उन से लड़ने के लिए खड़े रहते अर्थात् यह निश्चय ठानते कि फलाँ विकार इस समय मन में न आवे, क्या मजाल थी उस विकार की कि वह उन के सामने दिखाई भी दे। किंतु अन्य समय जब कि इन के प्रादुर्भाव से कुछ कुपरिणाम होने का संभव न था वहाँ पर ये उन की ओर दुर्लक्ष्य करते और उन्हें अपना कार्य करने देते।

तुकाराम महाराज ने अपना यह अन्योन्य-विरुद्ध स्वभाव एक अभंग में बड़े अच्छे प्रकार से वर्णन किया है। आप कहते हैं—"हम विष्णुदास मोम से भी मुलायम हैं पर वज्र से भी कठिन हैं। मरे भी हम ज़िंदा हैं और सोते भी जागते हैं। जो पुरुष जो वस्तु हम से माँगे उसे हम वही दें। भलाई के साथ कोई चाहे तो हमारे कमर की लँगोटी भी खोल ले। पर कोई बदमाशी करे, तो उसे लाठी भी फटकारें। मा बाप से भी अधिक प्रेम करें, पर साथ ही शत्रु की अपेक्षा भी अधिक घात करें। हमारी अपेक्षा न तो

अमृत अधिक मीठा होगा, न जहर ज़्यादा कड़वा। हैं तो हम सिर से पैर तक मीठे, पर जो जिस की इच्छा हो, वही यहाँ पूरी होगी। भावना-प्रधान पुरुष का यही लक्षण है। जो धुन उस के मन मे सवार होती है, उसी के अनुसार वह चलता है। प्रायः सभी बड़े-बडे लोग भावना प्रधान ही होते हैं। विचार-प्रधान मनुष्य सामान्य कोटि का होता है। वह न इस सिरे पर जाता है न उस सिरे पर। मामूली लोगो का-सा साधारण कार्य किए जाता है। पर भावना-प्रधान पुरुष भर्तृहरि के कथनानुसार या तो लोगों के सिर पर विराजते हैं या दुनिया के पैरों से कुचले जाते हैं। भगवान् रामचद्र के विषय मे यह देखिए कि जिस सीता के लिए वे बन-बन रोने फिरे, उसी का त्याग करने मे भी उन्होंने कमी न किया, और त्याग करने के बाद भी उन्ही का शोक करते रहे, वासती के मुख से भवभूति ने कहलाया है कि लोकोत्तर पुरुषों के चित्त कौन जान सकता है ? वे वज्र से भी कठिन पर कुसुमों से भी कोमल होते हैं। ठीक यही हाल तुकारामादि सत्पुरुषों का है। जब तक स्त्री की सुनते रहे, तब तक ठीक, पर जब छटके तो ऐसे कि घर से बाहर निकल गए।

तुकाराम महाराज घर से निकले, तो सीधे इद्रायणी उतर आठ मील दूरी पर जो भामनाथ का पहाड है, वहाँ जा बैठे। वहाँ एकात में विचार किया कि "इस कुटुंब की सेवा-चाकरी करते-करते सासारिक दुःखों से खूब तपा, पर यह न समझा कि इन से कैसे छुटकारा पाऊँ। भीतर बाहर जहाँ देखता हूँ, वहाँ चोर ही चोर नज़र आते हैं। अर्थात् सब अपना ही फ़ायदा तकते हैं, मुझ पर दया कोई भी नहीं करता। एक दो नहीं कई दिन इन लोगो ने मुझ से मिहनत कराई और मुझे लूटा। मैं तो अब बिल्कुल घबरा गया हूँ। इस लिए हे पाडुरग, अरी मेरी माँ, अब तो तुम्हारे ही चरणों की याद कर तुम्हारे ही शरण आया हूँ। अब तो तुम्हें ही मुझे उबारना होगा, क्योकि दीनों को तारने का तुम्हारा प्रण है।" भामनाथ पर पड़े-पड़े तुकाराम जी एकात में पंद्रह दिन इसी का विचार करते रहे। अत में उन्हें समझ में आया कि "ससार खोटा है। जब तक उन से लोगों को सुख-प्राप्ति की आशा है, तब तक उन्हे यही तकलीफ बनी रहेगी। पर यदि वे एक बार इस पाश को तोड डालें तो न किसी बात की झक-झक पीछे रहेगी, न सिर पर कुछ भार रहेगा। अब तो यही समझना ठीक था कि सब ठीक-ठाक हो गया और यह बलाय टल गई। एक बार इस प्रकार का निश्चय हो जाने पर कि इस ससार की ओर फिर से न फिरेंगे, आप का निश्चय कौन फेर सकता था ?

इधर जिजाई भी कुछ कम न थी। वह बोलने में तो फटफटी थी पर साथ ही पतिव्रता भी थी। तुकाराम महाराज के चले जाने पर उसे बड़ी बेचैनी हुई। प्रायः भड-भडे लोगों की यही हालत होती है। मन मे जो आया फाड़-फाड़ बोल डाला पर पीछे कुछ नहीं। बादल आए, बरस गए, फिर आकाश साफ़ का साफ़। जिजाई का वह स्वभाव उस के जन्म भर रहा। वह तो भोली-भाली सासारिक स्त्री थी। उसे न तो तुकाराम की भगवद्भक्ति समझ में आती थी न उन का परोपकार। वह तो एक मात्र यह जानती थी कि उस के पडोसियों का ससार जैसे होता था, वैसे उस का होना चाहिए। पिता के घर में जिस सुख में वह थी, उसी प्रकार के सुख की वह तुकाराम से आशा करती थी। उस सुख की प्राप्ति

न होती देख उस का जी जलता और वह तुकाराम से खूब लड़ती। हेतु यह कि तुकाराम महाराज भी अन्य ससारी पुरुषो की तरह ससार के धधे अधिक सावधानी से करे। पर तुकाराम के प्रति उस की भक्ति कम न थी। वह भी पराकोटि की थी। विसंगति की दृष्टि से देखा जाय तो ज़िजाई के ही स्वभाव मे वह दोष अधिक था। इधर ख़ूब मनमाना बोलना और इधर तुकाराम भूखे रहे, तो स्वयं भी भूखा रहना। यह क्रम उस साध्वी का आखोर तक रहा। इस लिए तुकाराम के निकल जाते ही वह बड़ी बेचैन हुई। वह जानती थी कि तुकाराम के पास खाने-पीने के लिए या ओढने-पहिनने के लिए कुछ न था। इस कारण उसे बड़ी चिंता पडी और उस ने तुकाराम जी को सब जगह तलाश करवाया। इद्रायणी का तीर, बल्लाल का बन, भडारा और गोराडा पहाड़ सब स्थान ढुँढवाए। अत मे भामनाथ पर तलाश करने के लिए कान्होबा को भेजा। कान्होबा से और तुकाराम से भेट हुई। बड़े भाई ने अपना निश्चय प्रकट किया। यह सोच कि इस समय बोलने मे कुछ लाभ नही, कान्होबा चुप हो रहे और उन्हे घर ले आए। जिजाई को आनद हुआ।

कुछ दिन ऐसे ही गए। अब तुकाराम रहते तो घर मे पर वे घर का काम कुछ न करते। उन का कार्य-क्रम अब निश्चित-सा ही था। प्रातःकाल उठ कर श्रीविट्ठल का पूजन करना, कही एकात स्थल मे जा कर ज्ञानेश्वरी या नाथ भागवत का पारायण करना, और रात को जहाँ कहीं हरिकीर्तन हो, वहाँ जा कर हरिगुण और हरिदासों का प्रवचन सुनना। ससार का अब एक भी काम वे न करते। कुछ दिन जिजाई न बोली। पर धीरे-धीरे फिर बोलना शुरू हुआ। परतु अब स्थिति पलट गई थी। इस विचार से कि ये फिर उठ कर न चले जावे, वह कम बोलती। इधर तुकाराम को भी अब उस के बोलने से न लज्जा आती न क्रोध। अगर आती तो केवल हँसी। जिजाई भी उन्हे अब और कुछ न कहती। यदि कहती तो बोल्होबा के समय जो लोग इन के यहाँ से क़र्ज़ ले गए थे, उन के यहाँ से केवल कुछ धन वसूल कर लाने को कहती। कभी-कभी तुकाराम यह काम करते भी।

पर यह काम करते हुए इन का मन दुश्चित होने लगा। एक तो धन का विचार मन में अधिक आने लगा। दूसरे देनेदार लोग या तो इन से मुँह छिपाने लगे या झूठ बोलने लगे। यह देख तुकाराम महाराज के मन मे विचार उठने लगे कि "यह काम बड़ा बुरा है। ईश्वर की बजाय धन का चिंतन तो मुझे करना ही पड़ता है, पर साथ ही लोगों को झूठ बोलने में भी मैं प्रवृत्त करता हूँ। देने का अनुभव मुझे भी स्वयं है। कर्ज़ के बोझ से तो देह भी भारभूत जान पड़ती है। ईश्वर ने मुझे देह दिया है। क्या यह मैं ने ईश्वर से उधार नहीं लिया है? इस कर्ज की अदाई मैं ही कैसे कर रहा हूँ? जब तक मैं स्वयं इस ऋण से मुक्त न हुआ, तब तक लोगो से उन के कर्ज़ की अदाई माँगने का मुझे क्या अधिकार?" इस प्रकार के विचार प्रबल होते ही तुकाराम जी ने निश्चय किया कि ये सब कर्जखत इद्रायणी में डुबो दिए जावें। नैराश्य का सुख और आशा का दुःख आप ख़ूब जान चुके थे। इस लिए यह भावना पैदा हुई कि काग़ज पत्र डुबो देने पर अपना किसी पर हक़ ही न रहेगा और फिर यह फ़िक्र कि वह देगा या नहीं, मन को व्यग्र

न करेगी। जब जिजाई और कान्होबा ने यह निश्चय सुना तब जिजाई तो कुछ न बोली; पर कान्होबा नम्रतापूर्वक बोले, "दादा, आप तो साधु होना चाहते हो। पर मुझे तो अभी घरबार चलाना है। ये सब कागज डुबो कर आप मेरा क्यों नुक़सान कर रहे हो।" कान्होबा की यह बात सुन तुकोबा चुप हो गए। पर अंत में खूब विचार कर यह निश्चय हुआ कि कागज दोनों भाइयों में बाँटे जावें। कान्होबा अपने हिस्से के काग़ज अपने पास रक्खे और उन के दाम वसूल करे। उन के बाँटे के कागज डुबाने का इन्हें अधिकार न था। पर जो काग़जपत्र इन के खुद के हिस्से में आवें, उन पर तो इन का पूर्ण अधिकार था। ये चाहे उस का दाम वसूल करें, चाहे उन्हें नदी में फेंक दें। यह सोच कि 'सबों को नहीं तो कम से कम मेरे देनेदारों को मैं ऋणमुक्त क्यों न करूँ' तुकाराम जी ने अपने हिस्से के काग़ज लिए और उन्हें इंद्रायणी में डुबो दिया। जिजाई ने सोचा कि कहाँ से इन महाराज को वसूलियत का काम करने को कहा!

अब तुकाराम महाराज के पीछे जंजाल सब छूट गया। न इन से कोई कुछ कहता, न ये किसी से कुछ बोलते। खतों के कागज डुबो देने के बाद तुकाराम जी ने कभी धन का स्पर्श ही नहीं किया। यह व्रत उन्हों ने अंत तक निभाया। जब शिवाजी महाराज ने इन्हें बुलाया और इन को लिवा लाने के लिए घोड़ा भेजा और इन्हें कुछ जवाहिर नजर किया तब भी आप ने वह सब वापस कर जो अभंग श्रीशिवाजी राज को भेजे उन में लिखा कि "धन तो हमें गो-मास-सा त्याज्य है।" काग़ज डुबो देने के बाद शीघ्र ही तुकाराम महाराज की देहू-वासियों पर छाप पड़ गई। वे इन्हें साधु समझने लगे। कुछ सांसारिक लोग तो अवश्य ऐसे थे जो इन के इस कृत्य को बेवकूफी के सिवाय और कुछ न कहते। पर अधिकांश लोगों पर इस का असर अच्छा हुआ। प्रायः जिन लोगों के दस्तावेज़ महाराज ने डुबो डाले थे, उन में से बहुतेरों ने इन का कर्जा अदा किया। किसी न किसी रूप में थोड़ा-बहुत कर, जैसा बना, वैसा उन लोगों ने जिजाई को पहुँचाया। जिजाई ने भी इस के बाद तुकाराम से कोई घर का काम करने के लिए कभी न कहा। वह स्वयं ही सब काम देखने लगी। मन में कुढ़ती तो अवश्य, जब कभी दुःख असह्य होता तो बोलती भी। पर अब उस बोलने में निंदा का विष भरा न रहता था। अब उस में अपना दुखड़ा रोने का ही सुर रहता। तुकाराम जी ने तो अब इस विषय में चिंता करना ही छोड़ दिया था। उन का तो निश्चय हो चुका था कि जिस ने चोंच दी है, उस ने चुगने के लिए दाना पहले ही पैदा कर रक्खा है। मनुष्य के हाथों में कुछ नहीं, सब दैव पर निर्भर है। "दैव से ही धन मिलता है और दैव से ही मान। प्रारब्ध से ही सुख होता है और दुःख भी प्रारब्ध से ही मिलता है। इस लिए रे मन, इन बातों के पीछे क्यों पड़ा है, तू तो पंढरीनाथ का भजन कर। दैव ही से तो पेट भरता है, और इसी लिए तुकाराम कभी नहीं चिल्लाता।" वे तो अब इन सब बातों से छुटकारा पा चुके थे। उन्हों ने इस के बाद खाने-पीने की कभी परवाह न की। जो मिले, उसी पर गुजारा किया। अब तो इन का भार स्वयं श्रीविट्ठल ने उठाया था। इन के खाने-पीने की चिंता सदैव जिजाई करती। दोनों बेर जैसा बने, वैसा रूखा-सूखा वह उन्हें खिलाती। ये जब पहाड़ों पर जा बैठते, तब भी इन का खाना

स्वयं वहाँ ले जाती या किसी के हाथ भिजवाती। परतु बग़ैर इन के खाए ख़ुद कभा न खाती।

अब तुकाराम जी को केवल एक ही काम रहा और वह था एक भाव से श्रीविट्ठल का नाम लेना। तुकाराम समझते थे कि नाम ही ईश-प्राप्ति का साधन है और नाम ही उस का फल है। दोनों साधन तथा साध्य का मूल्य एक नाम ही वे समझते थे। वही नाम लेते हुए वे बड़ी भक्ति से चिल्लाते 'आ री मेरी माँ, आ री मेरी विठाई'। इस नाम-स्मरण से ही उन को सब कुछ मिला। यह क्या और यह कैसे मिला, इस की साख उन का चरित्र दे रहा है। पाठकों को स्वय ये बाते धीरे-धीरे समझ में आएँगी। यहाँ पर केवल इतना ही कहना है कि दिवाला निकलने के कारण इन के प्रति जो देहू के लोगों की तिरस्कार-बुद्धि हो गई थी, वह इंद्रायणी में काग़ज डुबाने से बदल गई और वे ही लोग तुकाराम जी की ओर दूसरी दृष्टि से देखने लगे।

पंचम परिच्छेद

तुकाराम की साधना

तपबल रचइ प्रपंच विधाता।
तपबल विष्णु सकल जग त्राता॥
तपबल संभु करहिं संघारा।
तपबल सेस धरहि महि भारा॥
तप अधार सब सृष्टि भवानी।
करहु जाइ अस तप जिय जानी॥

वेदात-शास्त्र में जीवों के चार भेद किए हैं—बद्ध, मुमुक्षु, साधक और सिद्ध। जब तक जीव को यह ज्ञान ही नही होता है कि वह ससार के पाशों से बंधा हुआ है, जन्म-मृत्यु के भ्रमण-चक्र में फँसा हुआ है, और सासारिक क्षणिक सुखो से भिन्न कोई नित्य साधन सुख है, वह बद्ध कहलाता है। ईश्वर की माया ऐसी है कि बहुधा जीवो को यह ज्ञान होने ही नहीं पाता। परवशता में सदियो से पडे हुए लोगो को जिस प्रकार प्रथम यह ज्ञात ही नहीं होता कि वे पराधीन हैं, परतत्र हैं, प्रत्युत जिस प्रकार वे उस परवशता के अधीन हो अपनी स्थिति में सुख की नींद सोते हैं, उसी प्रकार अनादि काल मे इन ससार-पाशों में बँधे जीव को यह ज्ञान ही नही होता है कि वह बद्ध है। सासारिक सुखो में पले हुए जीव को प्रायः यह ज्ञान नही होता। परंतु जब सासारिक दुखों की आँच लगती है, चारों ओर जलते हुए वन में जाल में फँसे हरिण की नाई जब इस जीव पर सभी ओर से दुख आने लगते हैं

और उन से छुटकारा पाने का उपाय उसे नही सूझता, तभी यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि वह बद्ध है। तब उस की माया-नींद खुलती है। पर नींद के खुलते ही उस को बद्ध दशा नष्ट नही होती। केवल यह ज्ञात होने से कि हम पर-वश हैं, पराधीनता की अवस्था से मनुष्य या राष्ट्र नही छूटता। उसे इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि उसे क्या प्राप्त करना है। वह जीव जिसे यह समझता है कि वह बद्ध है और उसे मोक्ष प्राप्त करना है, मुमुक्षु कहलाता है। तब उस के मन मे इन पाशो से छुटकारा पाने की बुद्धि उदित होती है। यह होते ही जिन बातों को वह अपनी बद्धावस्था मे हितकर मानता था, वे ही अब उसे दुखकर और त्याज्य मालूम पड़ती हैं। उसे अब ज्ञान होता है कि सामान्य संसारी जीव जिसे सुख समझते हैं, वह अंत मे दुःख ही है और मोक्ष चाहनेवाले जिसे सुख समझते हैं वही सांसारिक लोगो की ओर से दुःख माना जाता है। इसी विपरीत बात के विषय में भगवान् कहते हैं, कि "सब प्राणियो की रात मे संयमी पुरुष जागता है और जिस स्थिति मे प्रायः सब प्राणी जागते हैं, आँखे खुला हुआ पुरुष उसी स्थिति मे नींद लेता है।" इस दृष्टि-परिवर्त्तन के बाद स्वाभाविकतया ही मुमुक्षु जीवबंधन-कारक बातो को छोड मोक्ष-दायक बातो का ही सेवन करने लगता है। इसी दशा मे उसे साधक कहते हैं। अंत मे साधना करते-करते जब वह पूरी मुक्त-दशा को पहुँचता है, तब वह सिद्ध कहलाता हैं। श्रीतुकाराम महाराज इन चारो अवस्थाओ से गुजरे। पिता की मृत्यु होने तक वे बद्धता की रात में सोते थे। उस के बाद दिवाला निकलने के दिन से इंद्रायणी मे कागज डुबाने के दिन तक वे मुमुक्षु अवस्था में थे। उस के बाद उन्हो ने साधक दशा में प्रवेश किया। इस अवस्था से सिद्ध-दशा को पहुँचने के लिए उन्हों ने जिन साधनों का सेवन किया, उन्ही का विचार इस परिच्छेद मे करना है।

इस विषय में पाठको को दूसरे किसी के कथन पर विश्वास लाने की आवश्यकता नही है। स्वयं श्रीतुकाराम महाराज ने अपने कुछ अभंगों मे बतलाया है कि उन्हों ने क्या साधन किया। यह सब कहने का कारण यह था कि एक बार संतो ने उन से प्रश्न किया कि "महाराज आप इस स्थिति को कैसे प्राप्त हुए?" किसी महात्मा को देखते ही सामान्य लोगो को—विशेषतः उन को जो उसी मार्ग से जाना चाहते हैं, यह जानने की स्वाभाविक मनीषा होती है कि किन बातों के आचरण से उस महात्मा को यह महत्व प्राप्त हुआ। उन बातो को जान, यथाशक्ति स्वयं आचरण कर, उच्चता को पहुँचने की महत्वाकांक्षा ही इस जिज्ञासा का मूल है। यद्यपि हर एक श्रोता उन बातो को आचरण में ला वैसा ही महात्मा नही बना सकता है तथापि यह इच्छा बिल्कुल स्वाभाविक है और थोड़ा-बहुत लाभ भी केवल इन बातो को जानने से भी अवश्य होता है। इसी कारण महात्माओं को अपने ही मुख से अपना ही वृत्त कथन करने की इच्छा न होते भी वह कहना पड़ता है। श्रीतुकाराम महाराज तो स्पष्टतया आरंभ ही में कहते हैं कि "ये बाते कहना उचित तो नहीं, पर जब आप ऐसे सज्जन ऐसे निर्बंध से यह पृच्छा करते हैं तो आपकी बात माननी ही चाहिए।" यह निवेदन कर श्रीतुकाराम महाराज ने अपना साधन-मार्ग बताया है। संभव है हर एक पाठक को यह मार्ग पूर्णतया उचित न जान पड़े, या कुछ ऐसी बातें जिन पर तुकाराम जी ने

अधिक भार डाला है बड़े महत्व की न प्रतीत हो। परतु यहाँ पर ऐसे मार्ग का विचार नही करना है जिस से हर एक पाठक के चित्त का समाधान हो या जिस को अनुसरण कर हर एक मनुष्य तुकाराम बन सके। ऐसा सर्व-साधारण मार्ग न कोई विद्यमान है न किसी को उस मार्ग मे जाने की प्रबल इच्छा है। जहाँ इच्छा है वहाँ मार्ग आप से आप ही दीख पड़ता है। यहाँ तो केवल इतना ही देखना है कि श्रीतुकाराम महाराज ने सिद्धावस्था प्राप्त करने के लिए क्या साधना की।

सासारिक लोग जो काम सुख के समझ कर करते हैं, उन्हें छोड देने पर भी इस का निश्चय करना आवश्यक ही है कि क्या करना चाहिए। गीता के कथनानुसार कोई भी प्राणी एक क्षण के लिए कर्म किए बिना नही रह सकता। अर्थात् एक प्रकार के कर्म न किए जाए तो दूसरे किस प्रकार के करने चाहिए? उक्त प्रश्न का उत्तर भक्ति-मार्ग यों देता है। जिस प्रकार सासारिक दशा मे हर एक मनुष्य हर एक काम अपने खुद को या अपने कुल को सुख देने के लिए करता है, उसी प्रकार भक्ति की साधक दशा मे हर एक काम अपने उपास्य देवता को सतुष्ट करने के हेतु करना चाहिए। इस साधकावस्था मे केवल मन से ही ईश्वर कहना पर्याप्त नही होता, क्योकि यह बात इतनी सहल नही है। यदि एक क्षण भर के लिए ही सासारिक मनुष्य मन से ईश्वर का ध्यान करने का प्रयत्न करे, तो इस बात की कठिनता उस के ध्यान में फौरन् आ जायगी। इद्रियों का और उन के विषयों का सनिकर्ष होते ही उन का परिणाम मस्तिष्क द्वारा मन पर हुए बगैर नहीं रहता। इसी कारण क्षण-क्षण में मन के चिंतन में बाधा पडती है। मन और शरीर का अत्यत निकट सबध होने के कारण एक का दूसरे पर परिणाम हुए बिना नही रहता। और सासारिक कृत्यो में आसक्त रहने के कारण जो आदतें शरीर को पड जाती हैं उन्ही का परिणाम मन पर अधिक होता है। अर्थात् यदि दुर्निग्रह और चचल मन को अपनी इच्छा के अनुसार वश में रख कर इष्ट कार्य में प्रवृत्त करना हो तो प्रथम शरीर को सँभालने से ही आरभ करना पडता है। योग-शास्त्र में यम नियमादिकों का प्राधान्य इसी लिए माना जाता है। इन के साहाय्य से शरीर को वश मे लाने के पश्चात् चित्त-वृत्ति का निरोध करना सुसाध्य होता है। भक्ति-मार्ग में भी इसी प्रकार प्रथम शरीर, वाणी और फिर मन को वश में लाना पड़ता है।

श्रीतुकाराम महाराज के मन मे भी प्रथम यही आया कि ऐसा कुछ काम करना चाहिए जिस से शरीर एक-सा श्रीविठ्ठल की सेवा मे मिहनत करता रहे। अतएव उन्हों ने अपना विठ्ठल-मदिर सुधारने का काम सब से पहले शुरू किया। विश्वभर बाबा के समय से इस मदिर की दुरुस्ती न हुई थी और बीच के दुर्भिक्ष और दुर्दैव के दिनो मे तो इस की ओर किसी का ध्यान ही विशेष रूप से न गया था। मदिर पुराना हो चुका था और कई स्थान पर गिरने को हुआ था। श्रीतुकाराम महाराज ने स्वय सब प्रकार के कष्ट उठा कर इस मदिर की मरम्मत करने का निश्चय किया। उन्हो ने पत्थर जमा किए, मिट्टी ला कर उस का गारा बनाया और सुबह से शाम तक मिहनत कर मदिर की मरम्मत की। भीतें नई बनाई, चारों तरफ का अहाता तैयार किया और सब स्थान साफ कर नया-सा कर डाला।

इस प्रकार मदिर के जीर्णोद्धार के साथ ही उन्हों ने अपनी चित्तवृत्ति को भी सुधारा। भक्ति-मार्ग से काम करने का यही बडा भाव है। उदाहरणार्थ यही देखिए। जब कोई पुरुष अपना मकान बनवाता है, तब उस का चित्त उन बातों में अधिक आसक्त रहता है, जो उस घर मे आगे होनेवाली हो। इसी प्रकार मदिर बनाते समय तुकाराम के मन में भी भविष्यत्कालीन दृश्य ही आते होंगे। यहाँ पर भजन करेंगे, यहाँ बैठ पूजन करेंगे, यहाँ संतों के साथ चर्चा करेंगे इत्यादि विचारों मे ही उन के दिन बीते होंगे। अर्थात् मकान बनाने का एक ही कृत्य होते हुए, एक का मन सासारिक बातों से भरा रहता है तो दूसरे का परमार्थिक बातों मे। एव मदिर बाँधते-बाँधते श्रीतुकाराम महाराज के चित्त में पारमार्थिक विचार, वाणी से हरिनाम का उच्चार और शरीर से ईश्वरार्पित आचार तीनों बाते साथ ही साथ हुई।

स्वय मिहनत कर के मदिर की मरम्मत करने से उस मदिर के प्रति तुकाराम जी को अधिक ममत्व मालूम होने लगा। अपनी इच्छानुसार अब भजन-पूजन करना, एकात में बैठ ईश्वर का ध्यान करना, ज्ञानेश्वरी प्रभृति ग्रथों का पाठ करना इत्यादि कार्यों के लिए उन्हे अब कहीं दूर जाने का विशेष कारण न रहा। विशेष एकात के लिए वे कभी-कभी किसी पहाड़ पर जा बैठते थे, पर प्रायः उन का बहुत-सा काल अब इसी विठ्ठल-मदिर मे बीतता था। मदिर की मरम्मत करने के पश्चात् उन्हो ने वहीं पर एकादशी की रात में कीर्तन करना शुरू किया। एकादशी का केवल उपवास करना तो इन के कुल मे पहले ही से था। पर अब वही बात अधिक नियम के साथ और अधिक निष्ठा से होने लगी। जिस प्रकार सभी धर्मों मे कुछ न कुछ दिन उपवास के लिए नियत हैं, उसी प्रकार इस वारकरी सप्रदाय में एकादशी की तिथि उपवास के लिए निश्चित है। एकादशी व्रत के लिए दशमी के दिन एकभुक्त रह कर, एकादशी के दिन कुछ न खा कर रात भर हरि-कीर्तन भजन कर के द्वादशी को सूर्योदय होते ही भगवान् को नैवेद्य समर्पण कर उपवास छोड़ना होता है। जान पडता है कि तुकाराम जी एकादशी के साथ सोमवार का भी व्रत करते थे। क्योंकि उन के अभंगो मे ये दो व्रत न करनेवालों की कई बार निंदा पाई जाती है। दिन भर निराहार रह कर शाम को शिवपूजन कर सोमवार व्रत की धारणा की जाती है। आज-कल केवल आरोग्यविषयक दृष्टि से ही उपवास की ओर देखा जाता है, परतु तुकाराम महाराज के समय ये उपोषण के दिन उपासना-विषयक दृष्टि से देखे जाते थे और आज भी भाविक लोग उपोषण व्रत की ओर इसी दृष्टि से देखते हैं। भक्तिमार्ग की दृष्टि से भजन-पूजन के आड़ आनेवाले आलस्य, निद्रा और चित्तविक्षेप को दूर करने में उपवास का बड़ा उपयोग है।

श्रीतुकाराम महाराज ने एकादशी के दिन कीर्तन करना आरभ किया। आज तक वे अन्य हरिदासों के कीर्तन सुनने जाते थे पर अब उन्हों ने स्वय कीर्तन करना शुरू किया। इस का एक कारण तो यह था कि प्रायः बहुत-से कीर्तनकार कीर्तन कर के ही उप-जीविका चलानेवाले होने के कारण केवल बगला भगत होते थे। उन लोगों का चित्त हरिभजन में रत न होने के कारण उन के कीर्तन का उन के परिणाम श्रोताओं के मन पर

इस प्रकार से नहीं होता था। तुकाराम महाराज कहते हैं "प्रायः वक्ता आशाओं से बँधा रहता है और श्रोता के मन मे डर रहता है कि वक्ता कही श्रोता की निंदा न करे। इस का फल यह होता है कि वक्ता खुद ही नहीं समझता कि वह क्या कह रहा है। वह तो खाली इसी लिए गला सुखाता है कि उसे कोई कुछ दे दे। लोभ का बिलौटा बन यह घर-घर भीख माँगता फिरता है। अगर दोनों—श्रोता और वक्ता—का मन लोभ से ही भरा है तो वह भजन किस काम का? यह तो वैसा ही हुआ जैसे बहरे और गूँगे एक जगह ही जमे हो। अनाज तराजू से तौला जाता है और बोरी मे भरा जाता है, पर उस का स्वाद न तराजू जानता है न बोरी।" इस प्रकार के कीर्तनों से आरभ-आरभ में यद्यपि तुकाराम जी को कुछ आनद हुआ होगा, पर थोडे ही दिनों में इस प्रकार के भाड़े के कीर्तनकारों के कीर्तनों से ऊँदरा गए होंगे। इसी कारण उन्हो ने अपने विट्ठल-मदिर मे एकादशी के दिन स्वय कीर्तन करना आरभ किया। इस विषय मे आगे चल कर तुकाराम महाराज ऐसे निपुण हुए कि आप के कीर्तन की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई और श्रीशिवाजी महाराज के-से लोग भी इन का कीर्तन सुनने के लिए आने लगे। इन के कीर्तन का आनद लोहगाँव के लोगों ने ख़ूब लूटा। पाठक यहाँ न भूले होंगे कि लोहगाँव तुकाराम जी की माता कनकाई का जन्मस्थान था। तुकाराम-चरित के लेखक महीपति जी ने लिखा है कि "जिस प्रकार कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा होते भी कृष्ण-प्रेम का आनद गोकुल के लोगों को प्राप्त हुआ, उसी प्रकार तुकाराम महाराज के जन्म-स्थान देहू की अपेक्षा तुकाराम जी के कीर्तनों का आनद लोहगाँववालो ने ही अधिक उठाया।" कीर्तन कर के उस के बदले में धन लेनेवाले लोगो के विषय में तुकाराम जी के मन मे आखिर तक बड़ा अनादर रहा। यहाँ तक कि आप ने एक अभग मे साफ-साफ कह दिया है कि "कीर्तन के बदले मे जो धन लेते हैं वे और उन्हे जो धन देते हैं वे, दोनों नरक के अधिकारी हैं।"

तुकाराम स्वय कीर्त्तन करने लगे। इस का एक कारण और भी था। शिक्षक का काम करनेवाले हर एक मनुष्य का यह अनुभव है कि कई ऐसी बाते जो स्वय पढ़ते हुए उस ने न समझी थीं, जब वह शिक्षक का काम करते हुए विद्यार्थी वर्ग को समझाने के लिए पढ़ता है, उसे अधिक अच्छी रीति से समझ मे आ जाती हैं। इस का कारण यह है कि स्वयं सीखते समय उस ग्रथ पर इतना ध्यान नही दिया जाता, जितना कि सिखाने के समय देना पड़ता है। इस के सिवाय यह भी है कि जो बात खुद को अच्छी समझी हुई भी हो, वह भी समझाने से अधिक दिन याद रहती है। विद्यार्थी-दशा मे प्रायः यह देखा जाता है कि जो विद्यार्थी अपने सहपाठियो को समझाता रहता है, उस का विषय अन्य विद्यार्थियों की अपेक्षा अधिक तैयार रहता है। मतलब यह कि स्वय पठन करते हुए किसी बात का जितना विचार होता है, उस से कई गुना अधिक वही बात दूसरों को समझाने के समय होता है। पढ़ने की अपेक्षा पढ़ाने के काम मे इसी लिए अधिक विचार करना पड़ता है। तुकाराम महाराज कीर्तन करने में प्रवृत्त खास कर इसी लिए हुए कि 'ज्ञानेश्वरी', 'एकनाथी भागवत' इत्यादि ग्रथों पर स्वय पाठ करने या मनन करने की अपेक्षा अधिक विचार हो। आप ने अपने एक अभग में कहा है कि "ये शब्द केवल गौरव के नही पर मेरे स्वयं अनुभव से भरे हुए हैं कि

भक्ति को कीर्त्तन केवल पैदा ही नहीं करता वरन् उसे बढ़ाता भी है और अंत में निज पद को भी पहुँचाता है।" आप अपने प्रवचनों में ब्रह्मज्ञान या वेदांत की अपेक्षा भक्ति-मार्ग का ही विवरण अधिक करते। खास कर आप श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का ही वर्णन अधिक करते और श्रोतृ-समूह को खूब भजन कराते। श्रीविट्ठल-भजन पर ही आप का अधिक मन रहता और नाम-स्मरण की महिमा आप सदा प्रतिपादन करते।

पूर्वोक्त चरित्र से पाठकों को श्रीतुकाराम महाराज के विषय में यह बात विदित ही है कि आप ने किसी ग्रंथ का विशेष अध्ययन न किया था। पिता के पास तेरह वर्ष तक केवल पढ़ना, लिखना, हिसाब करना इत्यादि व्यावहारिक बातें ही सीखी थीं। बाद को भी उन्हें अभ्यास करने का मौका न आया। उन की बुद्धि तीव्र तो अवश्य थी, पर केवल बुद्धि की तीव्रता से अभ्यास नहीं होता। प्रायः यही देखा जाता है कि तीव्र बुद्धि और दृढ़ अभ्यास क्वचित् ही साथ पाए जाते हैं। तुकाराम जी ने तो स्पष्ट ही अपने विषय में कहा है कि "कीर्तन प्रारंभ करते समय मेरा चित्त अभ्यास में बिल्कुल न था।" ऐसी दशा में एकदम कीर्तन करने को प्रवृत्त होना एक प्रकार का साहस ही था। पर ऐसे बुद्धिमान् पुरुषों को साहस ही अभ्यास में प्रवृत्त करता है। यही हाल यहाँ भी हुआ। कीर्तन के लिए केवल समझने से थोड़ा ही काम चलता है। उस के लिए तो कई बातें जिह्वाग्र रहनी चाहिए। इस लिए सब से प्रथम आप ने संतों के प्रासादिक वचन का मुख-पाठ करना शुरू किया। मुख-पाठ करने की प्रथा भारतवर्ष में बड़ी पुरानी है। 'अग्निमीळे पुरोहितं' से ले कर 'समानीव आकूतिः' तक ऋग्वेद के सब मंत्र ही नहीं; उन मंत्रों के पद, क्रम, जटा इत्यादि प्रकार के पाठ, ब्राह्मण-ग्रंथों के तथा शिक्षादि षडंग ग्रंथों के साथ, अर्थ न समझते हुए भी मुख-पाठ करनेवाले वेद-पाठी ब्राह्मणों का आज भी अभाव नहीं है। छापेखाने न होने के कारण जिस समय ग्रंथ दुष्प्राप्य थे तथा विधर्मी लोग उन ग्रंथों को जलाने या नष्ट करने पर उद्यत थे, वेदों की पाठपरंपरा-पूर्वक रक्षा इन्हीं ब्राह्मणों की बदौलत हुई है। भारतवर्ष में प्राचीन पंडितों का तो आज भी यही विचार है कि "पुस्तक-पोथियों में ही जो विद्या रहती है तथा दूसरों के ताबे में जो धन रहता है, ये दोनों किसी काम की नहीं। क्योंकि प्रसंग पड़ने पर न वह विद्या काम आती है, न वह धन।" कीर्त्तन के समय कीर्त्तनकार काग़ज पढ़ कर तो प्रवचन नहीं कर सकता। उस के लिए तो मुख-पाठ करना आवश्यक ही है। मुख-पाठ करने में एक और लाभ यह होता है कि यदि अर्थ समझता हो, तो वाणी और मन दोनों का उस क्रिया में एक-सा योग रहता है। कीर्तन के लिए श्रीतुकाराम महाराज ने इसी कारण संतों के कई प्रासादिक और सुभाषित-स्वरूप वाक्य मुख-पाठ किए।

आप लिखते हैं कि "श्रद्धा और आदर-भाव मन में रख कर मैं ने संतों के वचन का मुख-पाठ किया।" इस वाक्य का प्रथम भाग बड़ा महत्व-पूर्ण है। जो वचन श्रीतुकाराम महाराज ने याद किए, उन के प्रति आप के मन में आदर तथा श्रद्धा उपस्थित थी। आज कल की शिक्षा से मन प्रायः श्रद्धा-हीन होता है। जिन ग्रंथों का अध्ययन करना हो, उन के लेखकों के प्रति यदि आदर-भाव न हो, तो उन के कथन में श्रद्धा भी नहीं उत्पन्न होती।

इस 'किं युग' में हम हर एक बात की 'क्यों' में ही फँस जाते हैं। इन क्यों और कैसे के बाहर ही नही जा सकते। जहाँ देखो वहाँ सशय और शकाओं का ही साम्राज्य नज़र आता है। इस कारण असली ज्ञान की प्राप्ति ही नही होती और अत में श्रीमद्भगवद्गीता के कथनानुसार 'अज्ञ, श्रद्धाहीन और सशयात्मा बन कर, अत मे नाश को ही प्राप्त होते हैं।'[1] जैसे हर एक बात अध-श्रद्धा से नहीं माननी चाहिए वैसे ही हर एक बात में संशय ले कर श्रद्धाहीन बनने से भी तो काम नहीं चलेगा? लोकमान्य तिलक जी के 'गीता-रहस्य' के उपोद्घात मे लिखे अनुसार श्रद्धा का आधार लिए बिना काम ही नहीं चल सकता। एन्, ओ नो का अर्थ नहा, मानने के लिए भी प्रथम अर्थ बतलानेवाले के प्रति श्रद्धा ही होनी चाहिए। भूमिति-शास्त्र का आरभ करते समय विद्यार्थी को प्रथम बिंदु या रेखा की व्याख्याएँ माननी ही पड़ती हैं। एक बार उन्हें श्रद्धापूर्वक मानने के बाद जैसे-जैसे वह उस शास्त्र में प्रगति किए जाता है, वैसे-वैसे उन व्याख्याओं की या परिभाषाओं की सत्यता उसे प्रतीत होने लगती है। पर यदि आरभ ही से सशय ले कर वह बैठ जाय, तो वह कुछ प्रगति ही न कर सकेगा। भारतीय धर्म-शास्त्र मे श्रद्धा और मेधा दोनो को एक-सा ही प्राधान्य दिया है। केवल इतना ही नहीं, दोनों का तुल्य प्राधान्य दिखलाने के लिए श्रद्धा मेधा की जोड़ देवता मानी गई है। तुकाराम जी ने केवल अपनी बुद्धि के बल पर ही अभ्यास न किया, पर श्रद्धा और आदर-पूर्वक अभ्यास किया। इस अभ्यास का क्या परिणाम हुआ, यह कहने की आवश्यकता ही नहीं है।

श्रीतुकाराम महाराज ने अपनी बुद्धि से एक-दो ही नहीं, कई ग्रथ पढ़े। मराठी के अतिरिक्त हिंदी और संस्कृत के भी कुछ ग्रथ उन्हों ने देखे थे। कबीरदास के दोहे तो उन्हों ने याद किए थे। इस बात का वर्णन महीपति जी ने किया ही है। इन दोहों की छाप इन के अभगों पर कई स्थानो पर पड़ी हुई नज़र आती है। केवल इतना ही नहीं, स्वय तुकाराम की हिंदी-भाषा में जो रचना है, उस मे कुछ दोहरे भी हैं। कबीर के सिवाय तुलसीदास, सूरदास और मीराबाई के कवित्व की भी कुछ-कुछ छाया इन के अभगों मे दीखती है। तुकाराम की हिंदी-कविता से उन का हिंदी-भाषा का ज्ञान-विशेष नही जान पड़ता। पर हिंदी के पूर्वोक्त सत कवियो के कवित्व प्रायः कीर्तनकारों के प्रवचनों में प्रचलित थे। इसी कारण हिंदी भाषा उन की परिचित भाषा थी। फिर तुकाराम जी के समय पूना प्रात पर मुसलमानो का ही शासन बहुत समय तक था, जिस के कारण भी वे हिंदुस्तानी भाषा से परिचित थे। पर हिंदी के ग्रथो का आप ने अध्ययन किया हो ऐसा नहीं जान पड़ता। केवल कुछ कविताएँ याद की होंगी। कई सस्कृत ग्रथों की भी प्रतिध्वनि आप की कविता मे सुनाई देती है। ज्ञानेश्वरी के साथ गीता का तो उन्हों ने अच्छा ही अध्ययन किया था। भागवत भी आप ने स्वय मूलरूप मे पढा था। पुराण और दर्शन-ग्रंथ तो पढ़ने का उल्लेख अपने अभगों में उन्हों ने स्वय किया है। महीपति जी के कथनानुसार उन्हो ने योग-वासिष्ठ का भी मननपूर्वक अर्थ समझ लिया था। इस से जान पड़ता है कि तुकाराम जी ने सस्कृत-भाषा का कुछ अध्ययन अवश्य किया था। पुष्पदत-कृत महिम्न-स्तोत्र तथा शकराचार्य जी के षट्पदी ग्रथ का भी राग कहीं-कहीं उन के अभगो में सुनाई

देता है। ये ग्रंथ पढ़ने के बाद वेद पढ़ने की भी इच्छा आप के मन में अवश्य हुई होगी, पर शूद्र-जाति में जन्म होने के कारण वह पूरी न हुई। जान पडता है कि यह बात उन के मन में खटकती रही। संभव है इसी कारण आप ने कई स्थान पर वेद-पाठ का अधिकार न रहने की बात पर दुःख प्रगट किया है। पर साथ ही आप से यह बात भी छिपी न थी कि जिन ब्राह्मणों को वह अधिकार था, वे वेद का अर्थ कुछ भी न समझते थे। अनेक जगह आप ने लिखा है कि "वेद का अर्थ तो हम ही जानते हैं, अन्य लोग तो केवल सिर पर बोझा उठानेवाले हैं", "वेद जिसे गाते हैं, वह तो हमारे ही साथ हैं", "वेदों का जटिल अर्थ वेद-पाठकों की समझ नहीं और दूसरे लोगो को अधिकार नहीं" इत्यादि। इस के सिवाय पुराण और अन्यान्य ग्रथो में जो वेद का उल्लेख उन्हों ने पाया था, उस से उन का अनुमान हो चुका था कि वेदों में क्या लिखा है। और उसी के आधार पर आप ने कई जगह वेद-मंत्रो का भावार्थ दिया भी है। परतु आप का खास अध्ययन मराठी सत-कवियों के ग्रथों का था। ज्ञानेश्वर के अमृतानुभव और ज्ञानेश्वरी तथा एकनाथ की 'भावार्थ रामायण' और 'भागवत' के आप ने कई पारायण किए थे और उन के अर्थ को आत्मसात् कर लिया था। नामदेव के तो कई अभग माता कनकाई के मुख से सुन कर इन्हें बचपन से ही याद थे और कीर्तन-भजन के लिए सब से पहले आप ने इन्ही अभंगों को याद किया। नामदेव के प्रायः जिन-जिन विषयों पर अभग पाए जाते हैं, उन सब विषयों पर तुकाराम महाराज के भी अभंग हैं।

भाविक पुरुष को ग्रथाध्ययन करते समय एक बडे सकट का सामना करना पड़ता है। अनेक ग्रंथ देखने पर अनेकों के अनेक मत ध्यान में आ कर बुद्धि चकरा जाती है। इस विषय में चित्त को सदेह होने लगता है कि सच क्या है और झूठ क्या। ऐसे समय यदि मन का दृढ़ निश्चय न हो या सत्यासत्य का निर्णय करने की सामर्थ्य बुद्धि मे न हो तो बड़ी आपत्ति आ पड़ती है। परतु तुकाराम महाराज मे ये दोनों गुण थे। किए हुए निश्चय में उन की बुद्धि स्थिर थी और उन की तीव्र बुद्धि सार-ग्राहिणी थी। वे स्वय कहते हैं कि "सत्य और असत्य के निर्णय में मैं अपनी बुद्धि की गवाही लेता और अन्यान्य मतो को न मानता।" किसी भी ग्रथ को पढते समय आप का विचार हसक्षीर न्याय से होता था। आप ने मुख्य सार एक ही निकाल रक्खा था। आप कहते हैं कि "वेद ने अनंत बातें कहीं पर सब शब्दो से एक ही अर्थ बतलाया। सब शास्त्रों ने विचार कर एक ही बात का निश्चय किया। अठारह पुराणों का सिद्धात देखा जाय तो उन का एक ही हेतु है।" तुकाराम कहते यह हैं "विठोबा की शरण जाना चाहिए।" तुकाराम महाराज की पाठांतर शक्ति असाधारण थी और साथ ही आपकी स्मरण शक्ति भी दुर्बल न थी जैसी कि प्रायः तीक्ष्णबुद्धि पुरुषों की होती है। एक बार का याद किया आप प्रायः भूलते न थे। इस का कारण महीपति की भाषा में कहा जाय तो यह था कि "दिन रात मनन करने के कारण अक्षर मानों स्वयं आ कर मुख में वास करने लगते।" इस प्रकार महाराज ने बड़े परिश्रम के साथ भक्ति-विषयक ग्रथों का अध्ययन कर और उन का सार निचोड़ कर मन में रक्खा। फल यह हुआ कि उस समय के भक्तजनों में आप की प्रतिष्ठा होने लगी।

साधक दशा में सब से बडा सकट उस समय सामने आता है, जिस समय मनुष्य की प्रतिष्ठा बढ़ने लगती है। जैसे योगियो की राह में अणिमादि सिद्धियाँ आड़ आती हैं वैसे ही भाविक साधक के मार्ग मे सम्मान और प्रतिष्ठा का बड़ा सकट आता है। मनुष्य स्वभाव से ही स्तुतिप्रिय होता है। उस पर भी जब वह केवल अपने ही परिश्रम से, किसी दूसरे का साहाय्य न ले कर, ऊँचे पद को पहुँचता है तब तो उस में अभिमान की मात्रा अधिकाश मे उत्पन्न होने की बहुत सभावना रहती है। न किसी को उसे समझाने का अधिकार रहता है, न किसी का कहा वह मानता है। तुकोबा को भी इस अभिमान से खूब ही झगड़ना पड़ा। आप खूब जानते थे कि यह अभिमान मन को बहिर्मुख करता है। अभिमान या अहकार के उत्पन्न होते ही, चित्त की अतर्मुख वृत्ति नष्ट होती है। उसे अपने दोष नही दीखते। केवल दूसरो के ही दोष नज़र आते हैं। आप ने स्पष्ट शब्दो में कहा है कि "यह काले मुँह का अभिमान ज़बरदस्ती अँधेरा दिखलाता है। मुख में मिट्टी डाल जो कुछ तुम्हें मिला हो उसे हाथ के हाथ उठा ले जाता है। बनी-बनाई बात बिगाडने के लिए यही लोक-लाज के रूप से पीछे पड़ता है। इस प्रकार बिगडे हुए लोगो की आखिर फजीहत ही होती है।" इस अहता से बचने के लिए आप ने लोक-लाज को कभी अपने पास फटकने भी न दिया। लोकलज्जा अहता का ही एक सूक्ष्म स्वरूप है। इस लिए उसे छोड आप सदा बड़ी दीनता धारण करते थे, और अभिमान को दूर भगा देते थे। उदाहरणार्थ जिन कीर्तनकारों के कारण आप को स्वयं कीर्तन की इच्छा हुई, उन्ही के पीछे आप साथ करने के लिए खड़े रहते। अर्थात् उन के मन में इन के प्रति सद्भाव रहता और इन के मन में अहता न आती। आप ने अपने आत्म-चरित्र पर अभग मे कहा है कि "मैं ने भक्तिपूर्वक शुद्ध चित्त कर के आगे गानेवालो का साथ किया, सतों का पादोदक सेवन किया और लाज को दूर रख जैसा बना वैसा परोपकार किया।" ऐसे मन मे अभिमान को प्रवेश न दे कर और लाज छोड कर तुकाराम महाराज ने नम्रता धारण की और अपना साधना-व्रत निबाहा।

तुकाराम महाराज ने एक अभग में साधक-स्थिति का वर्णन किया है जिस से उन की साधना की कल्पना भलीभाँति की जाती है। "साधक की स्थिति उदास होनी चाहिए। भीतर-बाहर किसी प्रकार की उपाधि उसे न रखनी चाहिए। शरीर की सुख-लोलुपता तथा निद्रा दोनों को जीत साधक को खाना बहुत थोडा खाना चाहिए। अकेले जहाँ कोई न हो वहाँ स्त्रियों के साथ कठस्थ-प्राण होते भी सभाषण नहीं करना चाहिए। सत्सगति, नामस्मरण और कीर्तन दिनरात होना चाहिए। तुकाराम महाराज कहते हैं जो कोई ऐसे साधनों से रहता है, उसी को ज्ञान और गुरु-कृपा प्राप्त होती है।" और एक जगह दो साधनो पर या साधक-स्थिति के दो शत्रुओ से बचने के विषय पर आप ने कहा है कि "अगर कोई साधना चाहे तो उस के लिए दो ही साधन हैं। उसे पर-द्रव्य और पर-नारी दोनो को बिल्कुल अस्पृश्य मानना चाहिए।" तुकाराम जी ने ये दोनों साधन यावज्जीवन पाले। धन के विषय में तो आप निरिच्छ थे ही। पर एक अभग से जान पड़ता है कि एक मौक़ा आप को ऐसा भी मिला था जब कि एक स्त्री इन्हे लुभाने के लिए

इन के पास आई। पर आप ने मनोजयपूर्वक उसे जवाब दिया कि "मा, यहाँ तो कभी का निश्चय हो चुका है कि पर-स्त्री रखुमाई सी है। जाओ यहाँ व्यर्थ कष्ट न करो। हम विष्णुदास वैसे नहीं। न तेरा पतन मुझसे देखा जाता है, न तेरा दुष्ट वाक्य सुना जाता है। और अगर तुझे पुरुष की ही आवश्यता है, तो दूसरे क्या थोड़े लोग हैं?" बेचारी क्या सोचती हुई वहाँ से गई होगी?

साधकावस्था चार स्थितियों में विभक्त की जाती है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार। साधक पहले किसी साधन की केवल बातें सुनता है। फिर उस का आचरण करते-करते वह मनन करता है। मनन स्थिति में वह देखता जाता है कि उस की साधना पूरी हुई या नहीं। साधनों का आचरण करते-करते साध्य प्राप्ति का विचार दिनरात सर्वकाल उस के मन में बना रहता है। इसी को निदिध्यासन कहते हैं। अंत में जब उन साधनों का आचरण होते-होते अहोरात्र साध्यप्राप्ति का विचार मन में रहता है, तब साक्षात्कार होता है। तुकाराम की साधन-दशा पहली तीनों अवस्थाओं में से जा चुकी थी। थी। साक्षात्कार सुलभ नहीं है। श्रीतुकाराम महाराज की सब साधना श्रीविठ्ठल के अब केवल साक्षात्कार की ओर शरण जाने की थी। वे पूर्णतया शरण हुए, उन्हो ने संसार छोडा कनक और कामिनी के मोह को त्याग दिया, श्रवण, मनन और निदिध्यासन किया। अब केवल भगवत्स्वरूप का साक्षात्कार होना बाक़ी था। जहाँ न शब्दों की तथा न मन की दौड पहुँचती हैं, ऐसे निर्गुण निराकार ईश्वर यदि तुकाराम महाराज के उपासक होते, तो 'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान से उन का समाधान हो जाता। पर वे थे सगुणोपासक। उन के परमात्मा तो भक्तों के साथ हँसते, खेलते, काम करते, भक्तों के संकट दूर करने के लिए बैकुंठ छोड़ दौड़े आते थे। अर्थात् तुकाराम महाराज इसी प्रकार के साक्षात्कार के भूखे थे। क्षण-क्षण ज्ञानेश्वर, नामदेव, जनाबाई, कबीर, एकनाथ, इत्यादि संतों के चरित्र ध्यान में ला कर और उन के लिए सगुण परमेश्वर ने जो साक्षात्कार किए थे उन्हें मन में लाते। "जिन संतो को मूर्तिमान् श्रीविठ्ठल के दर्शन हुए थे या हुए हैं, उन की योग्यता तक मैं अभी न पहुँचा" इस विचार से आप का चित्त बड़ा उद्विग्न होता। आप फिर-फिर मन में विचारते कि अपनी साधना में क्या दोष रहा।

विचार करते-करते आप के ध्यान में आया कि "यदि मेरी साधना में कुछ दोष है या कुछ कमी है, तो यही कि मुझे अभी तक किसी गुरु का उपदेश नहीं हुआ।" उपनिषदों में आप ने अवश्य ही पढा होगा कि "जिसे गुरु मिला है, उसी को ज्ञान होता है," "जिस की देव के विषय में उत्कट भक्ति होती है, और जैसे देव के वैसे ही गुरु के विषय में, उसी को वे सब योग्य समझते हैं।" श्रीराम, श्रीकृष्ण इत्यादि लीला-विग्रहधारी परमेश्वर ने भी गुरु-सेवा की थी। 'गुरु बिन कौन बतावे बाट' इत्यादि कबीर के पद भी आप को याद होंगे। पुराणों और संतों के विषय में तो आप ने स्वयं लिखा ही है कि 'व्यास ऋषि पुराणों में कहते हैं कि 'सद्गुरु के बिना मनुष्य प्रेतरूप है। किसी प्रकार से उस का छुटकारा नहीं हो सकता। उस का शरीर झूठ से भरा रहता है। पुराणग्रंथ तो ऐसा कहते ही हैं और संतों के वचन भी ऐसे ही हैं।' अतएव आप की यह कल्पना हुई कि किसी

गुरु की शरण जाना चाहिए। पर तुकाराम ऐसे तीक्ष्णबुद्धि तथा परम चिकित्सक भाविक को गुरु मिलना सहज न था। उन के आसपास ऐसे गुरु तो बहुत थे जो 'न तो शास्त्राधार जानते थे, न पात्रापात्र का विचार करते थे। पर केवल उपदेश दे कर गुरुदक्षिणा रूपी धन पर ही हाथ चलाते थे।' पर तुकाराम ऐसे खरे परीक्षक के सम्मुख ऐसे खोटे सिक्के चलनेवाले न थे। आप के मतानुसार तो 'ऐसे गुरु और उन के शिष्य दोनो निरयगति के ही अधिकारी थे।' पीछे कहा ही गया है कि केवल ब्रह्मज्ञान पर आप का विश्वास न था। आप जानते थे कि 'घर-घर ब्रह्मज्ञान है, पर जहाँ देखो वहाँ उस मे मेल है।' सगुण-भक्ति की अपेक्षा करनेवाले ऐसे ब्रह्मज्ञानियों के प्रति आप की भक्ति न थी। आप का तो साफ़-साफ़ ऐसा मत था कि "गुरु के मुख से ब्रह्मज्ञान हो सकता है पर, विठोबा के प्रेम की पहचान नहीं हो सकती। विठोबा का प्रेमभाव वेदों से पूछना चाहिए और पुराणों से विचारना चाहिए। ज्ञान से आनेवाली थकावट छोड़ केवल मत ही वह पहचान जान सकते है।" इस लिए किसी दाम्भिक गुरु से आप उपदेश लेने के लिए तैयार न थे। पर दिन-रात श्रीविठ्ठल की प्रार्थना करते रहते कि कोई अच्छा गुरु मिले और उस के उपदेश से आप कृतार्थ हों। इस निदिध्यासावस्था मे आप को प्रायः लोगों का उपसर्ग सहन न होता और घर के बाहर, पहाड़ों पर आप रात की रात श्रीविठ्ठल की प्रार्थना करते-करते गुजारते। अत में एक माघ शुक्ला दशमी गुरुवार की रात को आप ऐसे ही भजन कर रहे थे कि आप की आँखे झपकी और आप को निम्नलिखित दृश्य दिखाई दिया। आप इद्रायणी पर स्नान को जा रहे थे कि राह मे आप को एक सत्पुरुष का दर्शन हुआ। तुकाराम जी उन के पैर पडे और, उस सत्पुरुष ने इन्हे हाथ पकड़ कर उठाया। बड़े प्रेमभाव के साथ इन के पीठ पर से हाथ फेरा और आशीर्वाद दे कर कहा कि 'कुछ चिंता न करो। मैं तुम्हारा भाव पहचान गया हूँ।' इतना कह कर उस सत्पुरुष ने इन के सिर पर हाथ रक्खा और कान में 'राम कृष्ण हरि' मंत्र का उपदेश किया। उसी ने अपना ख़ुद का नाम बाबा जी बतलाया और अपनी परपरा 'राघव चैतन्य, केशव चैतन्य' बतलाई। सत्पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, सभाषण और उपदेश होने के कारण श्रीतुकाराम महाराज बडे आनदित हुए उसी आनद मे 'राम कृष्ण हरि', 'राम कृष्ण हरि' जोर-जोर से कहने लगे कि आप की झपक खुल गई। देखते हैं कि केवल 'राम कृष्ण हरि' 'राम कृष्ण हरि' शब्द मुख से निकल रहे हैं। आप का निश्चय हो गया कि आप को गुरूपदेश का साक्षात्कार हो चुका। यह तिथि स्वय श्रीतुकाराम महाराज ने अपने अभग मे दी है, और सशोधक विद्वानो का निश्चय हुआ है कि अंग्रेज़ी वर्ष के हिसाब से उस दिन ई० स० १६३३ के जनवरी मास की दसवीं तारीख थी।

भाविकों की दृष्टि से जो साक्षात्कार कहलाता है, उसे ही अभाविक लोग केवल मनःकल्पित कल्पना कह सकते हैं। यहाँ भी कोई इस प्रकार कह सकता है कि इस स्वप्न मे साक्षात्कार कौन-सा है? यह तो केवल मन का खेल है। 'मन मे अपने, देखा सपने।' यह कहावत यद्यपि ठीक है तथापि जब तक फलाँ ही सपना पड़ने का कारण या इष्ट स्वप्न हठात् देखने की सामर्थ्य मनुष्य में नहीं आई हो, तब तक श्रद्धायुक्त लोग ऐसे स्वप्न दृश्य

को भी साक्षात्कार ही समझेंगे। श्रद्धावान् भाविक भक्तो पर तो इन साक्षात्कारो का बड़ा प्रभाव पड़ता है। अक्सर देखा जाता है कि बच्चा रात के समय अँधेरे मे जाने से डरता है। वह मा को साथ आने के लिए बुलाता है। मा जगह पर ही बैठी बैठो 'मुन्ना, मुन्ना' पुकारती है। बच्चे का विश्वास हो जाता है कि माता पास है और वह अँधेरे मे चला जाता है। कई बार तो मा पुकारती भी नही। यह केवल भावना कि वह जागती है उसे निर्भय करने मे समर्थ होती है। ठीक यही बात साक्षात्कारो की है। साक्षात्कार के कारण भाविक के मन में जब एक बार यह भावना उदित होती है कि ईश्वर उसे सहाय कर रहा है, उस की भोली भक्ति अधिक बढती है, उस की श्रद्धा दृढ़तर होती है और वह अपनी साधनाओ मे अधिक निश्चय से प्रयुक्त होता है। तुकाराम जी के मन पर यही असर हुआ। सद्गुरूपदेश के विश्वास से अब आप ने 'राम कृष्ण हरि' मत्र का नियमपूर्वक जप आरभ किया। आप का निश्चय हो गया कि अब आप को भगवद्दर्शन अवश्य होगा। पर भगवान् का दर्शन ऐसा सुलभ थोड़ा ही है? चित्त में जब तक तीव्र उत्कठा न हो, जीव उस के बिना बिल्कुल ऐसा न तड़फे जैसी कि जल-बिन मछली, चित्त की पूर्ण एकाग्रता नहीं होती और बिना एकाग्रता के साक्षात्कार भी नहीं होता। कुछ दिन के बाद तुकाराम जी का ठीक यही हाल हुआ। अब आप केवल अपने मन से ही नहीं प्रत्युत अन्य संतों से भी पूछने लगे कि "भाई सज्जनो, इस प्रश्न का उत्तर दे कर मेरे चित्त का समाधान करो। क्या मेरा उद्धार होगा? क्या नारायण मुझ पर कृपा करेंगे? क्या मेरे पल्ले ऐसा पुण्य है जिस के प्रभाव से मैं भगवान् के चरण गहूँ, वह मेरे पीठ पर से हाथ फेरें और भगवान् का यह प्रेमभाव देख मेरा गला भर आवे? चारों पहर मुझे यही चिंता है, दिन रात मेरे दिल को यही लगी है। मेरी सामर्थ्य ऐसी नहीं जान पड़ती कि उस के बल से यह फल मुझे मिल जाय।" ऐसा बोल कर आप शोक मे फूट-फूट कर रोते। ऐसी साधना और फिर ऐसी निरभिमानता। फिर भगवान् दूर क्यों रहेंगे? एक रात इसो अवस्था मे तुकाराम को दूसरा साक्षात्कार हुआ। आप सो रहे थे कि नामदेव जी श्रीविट्ठल को ले कर आए और आप को जगा कर बोले "आज से व्यर्थ न बोलो। अभग रचने लगो। मेरा शतकोटि अभग-रचना का प्रण पूरा न होने पाया था। उस मे जो कुछ कसर रही है उसे तुम पूरी कर दो। डरने का काम नही। यह हमारी आज्ञा है। गल्ले की गाडी पर जैसा तौलनेवाला तराजू से तौलता चला जाता है उसी प्रकार से तुम रचना किए जाओ। तौला हुआ गल्ला जिस प्रकार अपना पल्ला पसार हुमाल भरता जाता है उसी प्रकार यह श्रीविट्ठल तुम्हारी कविता की सँभाल करेंगे।" आज्ञा सुन श्रीतुकाराम जी ने दोनों के चरण गहे। श्रीविट्ठल ने पीठ ठोकी और दोनो अतर्धान हुए। श्रीतुकाराम जी को आनद हुआ। उन की साधना पूरी हुई। उन का पुण्य फूला। मनोरथ फले। साक्षात श्रीविट्ठल का दर्शन हुआ। उन की अभग रचना का आरभ हुआ।

षष्ठ परिच्छेद

तुकाराम जी की कसौटी

इस दुनिया मे कोई भी चीज पैदा होने के पहले कुछ काल अज्ञात दशा में रहती है। बाद को जब वह अदृश्य रूप से दृश्य रूप मे बदल जाने के कारण आँखों को नजर आती है, तब पहले-पहल उस की ओर कोई भी ध्यान नहीं देता। इस दशा मे कुछ दिन निकल जाते हैं। धीरे धीरे उसे बढती देख कर लोगो का ध्यान उस की ओर खिच जाता है और जिन्हे वह पसंद हो, वे उसे बढाने के लिए और जिन्हे वह नापसद हो, वे उस का नाश करने के लिए भर सक कोशिश करते हैं। बिल्कुल आरभ से ही जिन्हे पोषक ही पोषक मिलते हैं, उन का प्रायः अधिक विकास नही होता, पर जो नाशक द्रव्यों के घोर विरोध मे भी जीते और बढते हैं वे ही अत मे ऊँचे पद को पहुँचते हैं। श्रीतुकाराम जी महाराज की साधना पूरी हो जाने तक उन का घोर विरोध किसी ने न किया था। पर जब से वे अभगो की रचना करने लगे, तब से उन की दिन ब दिन अधिक प्रसिद्धि होने लगी और कुछ प्रसिद्ध लोगो की आँखो में—विशेषतः उन की, जो कि भक्तिमार्ग के सदा से विरोध करनेवाले वैदिक कर्ममार्गी थे—यह चुभने लगी। जब उन्हो ने सुना कि एक पचीस-तीस वर्ष का नौजवान, जिसे अपनी दूकान तक सँभालने का शऊर न था, जो अपनी जोरू से लड़ कर अपने घर से कुछ दिन भाग गया था, और जिसे थोडे ही साल पहले कुछ भी ज्ञान न था, कविता बनाता है और कहता है कि उसे स्वप्न में ही गुरुदेव का दर्शन हुआ और स्वप्न मे ही परमेश्वर ने उसे कविता बनाने की आज्ञा दी तब उन मे से कुछ तो हँसी

उड़ाने लगे। पर वे लोग जो कि तुकाराम के पास थे और जिन के स्वार्थ मे श्रीतुकाराम जी के कारण हानि पहुँचना सभव था, उन का विरोध करने लगे। अब पाठको को यह बतलाना है कि इस विरोध मे श्रीतुकाराम महाराज की क्या दशा हुई और इस से पार उन्हो ने कैसे पाया। गत परिच्छेद के अत तक पाठकगण यह देख चुके है कि तुकारामरूपी सोना खान मे से बाहर कैसे निकला, और उस मे मिला हुआ कूडा-कचरा, मिट्टी दूर होने पर वह कैसा चमकने लगा। अब अपनी शुद्धता लोगो को पूरी-पूरी समझाने के लिए उसे आग मे जल कर, बिना काला पडे बाहर निकलना बाकी था। प्यारे पाठको, अब आप को यही बतलाना है कि यह कार्य कैसे हुआ।

वैदिक कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग का विरोध बहुत जमाने मे होता ही आया है। पहले-पहल इन मार्गो मे केवल साधन-भेद का ही झगड़ा था। कर्म-मार्गी लोग यज्ञ-यागादि कर्मो की आवश्यकता मानते थे तो भक्तिमार्गी लोग इन बातो की जरूरत न समझते थे। कर्ममार्गियो मे ब्राह्मण-वर्ण का महत्व माना जाता था। यज्ञ-यागादि काम ब्राह्मणो के बिना न हो सकते थे और इन कामो की दक्षिणा भी ब्राह्मण लोगो को ही दी जाती थी। क्योकि याजन और प्रतिग्रह अर्थात् दूसरो के घर यज्ञ करना और उन से दक्षिणा लेना--ये दो काम ब्राह्मणो के ही हक के समझे जाते थे। भक्तिमार्ग इन बातो को न मानता था। इस लिए जब उस की बाढ़ होने लगी, तब केवल इन्ही कृत्यो पर जिन का पेट पलता था, ऐसे ब्राह्मणो को भक्तिमार्ग का विरोध करना पडा। उस जमाने मे साधनभेद और जातिभेद के ही तत्वो पर विरोध था। काल के साथ ये विरोध के कारण बढते गए। संस्कृत-काल मे भाषा-भेद न था। सभी सस्कृत बोलते तथा समझते थे। पर प्राकृत-काल मे जाति-भेद के तत्व के साथ ही भाषा-भेद का भी एक तत्व और भीतर घुसा। कर्म-मार्गी लोगो के सब मत्र तथा उन की धर्म पुस्तके सस्कृत भाषा मे ही होने के कारण, जब वे ग्रथ प्राकृत भाषा मे प्रकट होने लगे, तो कुछ मत्रो की पोल खुलने लगी। इसी प्रकार जब सस्कृत ग्रथो के अनुवाद प्राकृत में होने लगे, तब सस्कृत भाषा के अभिमानी कर्ममार्गी पडित लोगो का जी घबराने लगा। महाराष्ट्रीय सतो ने पूर्ण प्राकृत विट्ठल देवता का ही माहात्म्य बढाया। जिस श्रीमद्भगवगीता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सस्कृत के प्रकाड पडितो की शरण लेनी पडती थी, उसी गीता का श्रीज्ञानेश्वर जी के महाराष्ट्र भाषा में अनुवाद और विवरण करते ही पडित ब्राह्मणो का हृदय हिल उठा। तब से ले कर उस हर एक महाराष्ट्रीय सत को जिस ने मराठी मे कुछ लिखा, ब्राह्मणो से थोडा-बहुत विरोध करना ही पड़ा। एक-नाथ जी ने तो साफ-साफ कहा कि "ईश्वर को भाषाभिमान नही है। उसे सस्कृत-प्राकृत दोनों एक-सी ही हैं। ज्ञान और प्रार्थना किसी भाषा मे की जाय, उस से परमात्मा एक-सा ही सतुष्ट होता है।" पर फिर भी इस प्रकार के ग्रथ लिखनेवाले प्रायः ब्राह्मण-कुल के ही थे। पर तुकाराम जी के समय इस झगडे मे यह बात भी और बढ गई कि तुकाराम जाति के शूद्र थे। अर्थात् जब श्रीतुकाराम महाराज की दिव्य वाणी से पूर्ण प्राकृत में शुद्ध भक्ति-भाव का सदेश सुन सब जाति के धार्मिक लोग उन्हें गुरु समझने लगे, तब अपने गुरूपदेश से लोगों को लूटनेवाले और उसी पर अपना पेट पालनेवाले ब्राह्मण तथा कर्म-

मार्ग-प्रवर्तक विद्वान् पडित तुकाराम जी को बुरी नज़र से देखने लगे।

इन्ही कर्ममार्ग-प्रवर्तक विद्वानो मे रामेश्वर भट नाम के एक महापडित कन्नड ब्राह्मण थे। बदामी गॉव से इन के पूर्वज महाराष्ट्र मे बाघोली नामक (देहू के पास ही) एक गॉव मे आ बसे थे। पॉच-चार गॉवो के जोशी का हक भी इन्ही के कुल मे था। वेद-विद्या इन के घर में परपरा-प्राप्त थी। ये श्रीरामचद्र जी के परम उपासक थे। बाघोली के व्याघ्रेश्वर नामक महादेव के मदिर मे इन्हो ने वेद का पारायण किया था और उसी का ये रोज रुद्राभिषेक करते थे। श्रीतुकाराम महाराज की कीर्ति सुन इन्हो ने ऐसी तजवीज की कि तुकाराम जी देहू से ही बाहर निकाले जावे। उन्हो ने ग्रामधिकारी को यह समझाया कि "तुकाराम पाखडी है। अपने कीर्तनो मे नाम-माहात्म्य का वर्णन कर वह भोले लोगो को अनादि काल से चले हुए वैदिक धर्म से प्रचलित करता है। उसी तरह ईश्वर-दर्शन की गप्पे मार गरीब लोगो को फॅसाता है।" उस अफसर ने यह बात देहू के पटेल से कही और उस के द्वारा श्रीतुकाराम महाराज को देहू गॉव छोड़ने के विषय मे हुक्म भेजा। देहू तुकोबा की जन्मभूमि थी। वहॉ वे छोटे से बडे हुए थे। वहॉ के विठ्ठल के प्रति उन का प्रेमभाव ख़ूब ही बढा हुआ था। ऐसी दशा मे यह हुक्म सुन कर अपने देहू गॉव को अर्थात् पर्याय से अपने प्राणप्रिय श्रीविठ्ठल को छोड़ जाने का श्रीतुकाराम महाराज को बड़ा भारी दुःख हुआ। जब उन्हों ने यह समझा कि इस हुक्मनामे के मूल-कारण रामेश्वर भट हैं, वे स्वय बाघोली गए। मन्शा यह थी कि रामेश्वर भट जी को कीर्तन सुनाया जावे और उन की प्रार्थना कर उन्ही के सिफारिश से वह हुक्म फेरा जावे। जब आप वहॉ पहुँचे तो रामेश्वर भट वेद-पारायण कर रहे थे। आप ने दडवत-प्रणाम किया और आप के सामने व्याघ्रेश्वर के मदिर मे ही कीर्तन का आरभ किया। सहज स्फूर्ति से महाराज अभग गाने लगे। स्वाभाविक तौर पर रामेश्वर भट के-से विद्वान के सम्मुख किए हुए कीर्तन मे जो प्रवचन किया तथा जो अभग गाए उन मे वेद-शास्त्रो का अर्थ भरा हुआ था। कीर्तन सुन कर रामेश्वर भट अवाक् रह गए। पर आप ने तुकाराम जी से कहा "तुम्हारे अभगो मे श्रुतियो का अर्थ आता है। तुम शूद्र जाति मे पैदा हो। अतएव तुम्हे श्रुत्यर्थ का अधिकार नहीं। क्या तुम जानते नहीं हो कि 'स्त्रीशूद्रद्विजबधूना त्रयी न श्रुतिगोचरा।' ऐसा करने से तुम स्वय अपने को और अपने श्रोताओ को दोनो को केवल पाप का भागी बनाते हो। इस लिए आज से अभग-रचना बद कर दो।" श्रीतुकाराम महाराज बोले "मैं श्रीविठ्ठल की आज्ञानुसार कविता करता हूँ। आप ब्राह्मण देवो को भी वद्य हैं। आप की आज्ञा मुझे प्रमाण है। मै आज से अब अभग न रचूँगा। पर रचे हुए अभगों का क्या किया जाय?" जवाब मिला, "यदि किए हुए अभग नदी मे डुबा दो और फिर से अभग न रचो तो मैं हुक्म वापिस फेरने की सिफारिश करूँ।" "जैसी आप की मर्जी" कह कर तुकोबा देहू आए और अपने अभगो का बस्ता उठा नीचे ऊपर पत्थर बॉध इद्रायणी मे धड़ाम से फेक दिया।

किसी साधारण लेखक का मामूली लेख भी यदि किसी सपादक महाशय की ओर से नापसद हो वापस आता है, तो भी उस लेखक को बड़ा दुःख होता है। फिर,तुकाराम

महाराज के-से अभंग-रचयिता को अपने खुद के अभंग अपने ही हाथों से पानी में फेंक देने के कारण कितना दुःख हुआ होगा इस की कल्पना सहज मे की जा सकती है। आप की कल्पना के अनुसार साक्षात् श्रीविट्ठल ने वे अभंग रचने की उन्हे आज्ञा दी थी। उन अभंगो के रूप से आप ने अपने मन में उमँगते हुए विचारो को ही बाहर निकाला था। उन अभंगों के सुनने से सैकड़ो भाविक लोगो के कान तृप्त हुए थे। ऐसे अभंगो को नदी में फेंक देना अपने जीते-जागते लड़के को पानी मे फेंक देने के बराबर ही था। पर श्रीविट्ठल के वियोग की भीति से आप यह कठोर कर्म भी कर बैठे। दुःख से भरे हुए मन से ही आप बाघोली से लौटे और उसी जोश मे अपना बस्ता ले कर इंद्रायणी मे फेंक दिया। परंतु फेंकने के बाद जब कई लोगो के मुख से यह सुना कि "जो किया, बड़ा बुरा किया। एक बार कर्जखतो के कागज फेंक स्वार्थ डुबोया, अब श्रीविट्ठल की आज्ञानुसार किए अभंग फेंक परमार्थ भी डुबोया। एवं दोनो मार्ग डुबो दिए। 'दोनो ठौर से गए पाँडे। न हलुआ मिला, न मिले माँडे" आप का जोश खट से उतर गया। दिल ने पलटा खाया। भावना का जोर कम हुआ और विचार का जोर बढा। वही नदी-किनारे बैठे-बैठे विचार करने लगे। जैसे-जैसे विचार करते गए, कानो मे यही अक्षर गूँजने लगे कि 'जो किया बुरा किया।' आप का विचार दृढ हो गया कि अब जीने से क्या लाभ ? जीने मे अगर न स्वार्थ है न परमार्थ है, तो वह जीना मरने के ही बराबर है। आप ने वही नदी के तीर एक पत्थर पर बैठ प्रायोपवेशन से जान देने का निश्चय किया।

जब कोई मनुष्य अपने खुद के हाथो से अपने पैरों पर पत्थर गिराता है, तब उस की बड़ी दुर्दशा होती है। अपना दुःख हलका करने के लिए न वह दूसरो से कुछ कह सकता है, न किसी का कुछ सुनने की उस की इच्छा रहती है। इस अवस्था मे हृदय फूटने लगता है, मुख से शब्द नही निकलता, किसी दूसरे को आँखो से देखने की भी इच्छा नही होती; एकांत ही प्रिय लगता है, न खाना सूझता है न पीना। साराश यह कि एक प्रकार की उन्मादावस्था आ जाती है। श्रीतुकाराम महाराज की यही स्थिति हुई। फिर भी मन की एक ऐसी प्रवृत्ति होती है कि वह उसी काम को करने के लिए दौड़ता है जिसे करने के लिए उसे रोका गया हो। श्रीविट्ठल की आज्ञा समझ कर तुकोबा सदा अभंग रचने की ही धुन मे रहते थे। अब जब रचना करने की मुमानियत हुई तो हठात् उन के मुख से उस उन्मादावस्था में जो विचार शब्द रूप से बाहर पड़ने लगे वे अभंगो के ही रूप मे बाहर आने लगे। उन के कुछ अभंग उस समय उन के भक्तो ने लिख लिए। वे आज भी प्रसिद्ध हैं। इन अभंगो से तुकाराम की मनःस्थिति पूरी-पूरी जानी जाती है। इन्हे पढ़ कर खासी कल्पना हो सकती है कि महाराज के मन मे क्या क्या विचार उमड रहे थे। इन विचारो में कभी स्वनिंदा, कभी ईश्वर की आज्ञा के विषय में अविश्वास और कहीं ईश्वर को भी चार भली-बुरी बातें सुनाई गई हैं।

इस स्थिति में तुकारामजी एक दो नहीं तेरह दिन पडे रहे। न कुछ खाना न कुछ पीना। बीच-बीच में जब मन की जलन अधिक बढती तो अभंगरूप से उन विचारो का उच्चार होता है। आप कहते "हे हरे, इसे तो बड़े अचरज की बात कहनी चाहिए कि

हमारे घर में आ कर लोग हमें तकलीफ दें। अगर भक्ति के कारण ऐसे दोष उत्पन्न हों तो भक्ति की क्या ही कहनी चाहिए? दिन-रात जागने का क्या फल? मिली तो दिल की जलन। तुकाराम तो इन सब बातों से यही समझता है कि उस की सेवा निष्फल ही गई।" "लेकिन हे पंढरीनाथ, जरा विचार कर कहिए तो सही कि मैं आप का दास कैसे नहीं हूँ? आप के पैरों को छोड़ और किस लिए मैं ने अपने संसार की होली जला दी? ऐसी सत्यता में यदि धीरज न हो तो वह देना चाहिए या उसे उलटा जला ही डालना चाहिए? तुकाराम के लिए तो इस दुनिया में, स्वर्ग में, तेरे सिवाय कुछ नहीं है।" "ऐसी स्थिति में रखिए नाथ, अपना सब अपने ही पास रखिए। मुझे उस से क्या करना है? मेरे मन में शांति है कि मैंने अपना काम किया। अब मैं क्यों फजूल विरोध करूँ? जो कुछ करूँ उस में तकलीफ ही बढ कर यदि मेरे लिए केवल कष्ट ही बचे तो आप पर क्रुद्ध हो कर तुकाराम अपने हिस्से का सुख क्यों छोड़े?" "अनन्य पुरुष तो सब प्रकार से एक ही बात जानता है। उस के मन में उस एक के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं आता। अगर इस दशा में मेरी ही इच्छा पूरी न हो और मेरा देश निकाला हो, तो क्या यह आप को सुहावना मालूम देता है? बच्चे का तो सब भार माता के सिर पर रहता है। वह अगर उसे दूर भी करे तो भी बच्चे को फिक्र क्या? तुकाराम का कहना है कि आप ऐसे समर्थ हो कर फिर इतनी देर क्यों?" "पर आप को समर्थ भी तो कैसे और किस के सामने कहूँ? आप की कीर्ति भी कैसे बखानूँ? मिथ्यास्तुति से क्या लाभ? इस से तो यही बेहतर है कि आप की पोल वैसे ही रहने दूँ। अगर दास कहलाऊँ तो उस की पहचान मेरे पास नहीं। मेरे पास है केवल दुर्दशा और फजीहत। अब तो आप की ओर मेरी ही मुँहमारी है। तुकाराम तो निर्लज्ज ही बन कर आप को टेर रहा है।" "पर मैं क्यों हठ करूँ? आप की डुगडुगी तो फजूल ही बज रही है। यदि प्राण अर्पण करूँ तो क्या होगा? पर मेरे इन शब्दों से यह तो बताओ कि आप को क्या लाभ होगा? राजा अगर अपनी पोशाक न दे तो कम से कम भूखे को खाना तो उसे देना ही चाहिए। अब अगर आप मेरी उपेक्षा करें तो फिर यह दूकानदारी किस काम आवेगी?" "अपनी किसी बात से मैं कँदराया नहीं हूँ। मुझे तो डर इस बात का है कि आप के नाम की क़ीमत नहीं रहती। हे गोविंद, आप की निंदा इन कानों से सुनी नहीं जाती। तुकाराम को लाज काहे की? वह तो अपने मालिक का काम करता है।" "अगर आप मेरा कहा सुनते ही नहीं हैं तो फिर भूसे को व्यर्थ क्यों छानूँ? अब तो ऐसा करूँगा कि घर-बैठे आप मुझे समझाने के लिए मेरे पास आवें। जितने उपाय थे सब कर चुका। अब कहाँ तक राह देखूँ? तुकाराम तो समझता है कि आप की आज्ञा खतम हो चुकी। अब तो सीधा हो कर आप के पैरों पर ही पड़ा रहूँगा।" मन में ऐसे विचार करते हुए और मुख से विठ्ठल नाम का स्मरण करते हुए तुकाराम जी उस शिलातल पर तेरह दिन पड़े रहे।

अब तो भगवान् पर सचमुच ही बडा संकट आ पडा। तुकाराम जी की जान चली जाती, तो उन की क्या हानि थी? उन का मन तो हरिचरणों में लीन हो ही चुका था। पर लोगों में सब जगह यह बात फैल जाती कि श्रीविठ्ठल के लिए तुकाराम जी ने

अपना देह छोड दिया। जिन लोगों की भक्तिमार्ग पर श्रद्धा थी और जो तुकाराम को भगवद्भक्त मानते थे, उन की श्रद्धा पर बडे जोर से वार पड़ता और संभव था कि उन में से कुछ पूर्णतया नास्तिक बन जाते। यदि तुकाराम का कुछ दोष होता तो बात और थी। पर उस का दोष तो रत्ती भर भी न था। उस का पक्ष पूर्ण सत्यता का था। अर्थात् सच और झूठ, भक्ति तथा अभक्ति, न्याय और अन्याय इत्यादि सद्गुणों के झगडे का मौका था और इस झगडे की हार-जीत पर कई बातें निर्भर थीं। तुकाराम जी की तो सब ही बात बिगड गई थी। घरबार की खाक पहले ही उड चुकी थी। जिसे वह परमार्थ समझते थे, वह भी अब स्वार्थ के साथ डूब चुका था। और दोनों तरफ के लोग उन की निंदा ही करते थे। इतना भी हो कर जिस श्रद्धा के आधार पर उन का जीवन था, उसी श्रद्धा का नाश होने का समय आ पहुँचा था। उन्हें या तो ईश्वर-साक्षात्कार इत्यादि बातें—स्वयं ईश्वर का अस्तित्व भी—झूठ मानना पड़ता या उसी श्रद्धा के लिए जान देनी पड़ती। इसी पेंच में श्रीतुकाराम महाराज तेरह दिन पडे थे। इस अवकाश में उन की प्रकृति बिल्कुल क्षीण हो गई थी। शरीर थक गया था। हाथ-पैर हिलाने की भी ताकत न बची थी। तेरहवें दिन रात को आप को खूब ही ग्लानि आई। पर आप का बराबर श्रीविट्ठल का स्मरण तथा चिंतन चल रहा था। जब कोई सुने तो "राम कृष्ण हरि' 'राम कृष्ण हरि' के शब्द सुनाई देते थे। लोग समझ चुके कि अब इन का अंतकाल समीप आ पहुँचा है। पर स्वयं श्रीतुकाराम जी को विट्ठल-दर्शन हो रहा था और आप कह रहे थे कि "महाराज यह चित्त तो आप के स्वरूप में आसक्त हो, आप के पैरों से जा लिपटा है। आप का सुंदर मुख देखते ही अब दुःख का दर्शन हो नहीं सकता। सब इंद्रियाँ, जो इधर-उधर घूमते-घूमते दुखी हो रही थीं, आप के अंग-संग से पूर्णतया आराम पा चुकीं। तुकाराम को ईश्वर की भेंट होते ही उस के सब संसार-बंधन छूट गए।"

भक्तवत्सल भगवान् कहीं दूर थोडे ही रहते हैं। वे तो भक्तों के हृदय में ही बसते हैं। उन्हें देखने के लिए कहीं दूर नहीं जाना पड़ता। अपने हृदय-दर्पण में ही उन्हें देखना होता है। अज्ञान के तथा अहंता के पटल जब तक उस दर्पण पर हैं, तब तक वह आत्मस्वरूप किसी को नहीं दीखता। पर अनुतापयुक्त आँसुओं के जल से वह मल का पटल धुलते ही उस में आत्मस्वरूप परमेश्वर का दर्शन होने लगता है। तुकाराम जी का यह पटल दूर होते ही उन्हें परमात्मा बालकृष्ण के स्वरूप में दिखाई देने लगे। इसी के साथ-साथ जल, थल, लकडी, पत्थर सब पदार्थों में वर्तमान परमात्मा को कभी-कभी कुछ चमत्कार दिखाने पड़ते हैं—जिन बातों को सामान्य प्रकृति-नियमों के अनुसार हम नहीं देख सकते। ऐसी बातें देखने पर जड़-प्रकृतिवादी वैज्ञानिक उन्हें 'प्रकृति की मनमानी करतूत' समझते हैं। भाविक लोग जब कभी ऐसी आश्चर्यजनक बात देखते हैं तो वे उसे 'भगवान् की अतर्क्य करनी' मानते हैं। ऐसी ही एक अतर्क्य बात इस समय हुई। तुकाराम जी के कुछ भक्तों को स्वप्न आया कि 'तुकाराम जी के अभंगों का बस्ता इंद्रायणी में पानी पर तैर रहा है।' जगते ही वे लोग दौडे आए। देखते हैं तो इधर तुकाराम जी निश्चेष्ट पड़े हुए हैं और उधर पानी में कुछ फूली हुई चीज़ तैर रही है। झट से दो-चार आदमी

कूद पड़े और बस्ते को निकाल लाए। देखा तो पत्थर छूट गए है। ऊपर का कपड़ा भीग गया है, पर भीतर अभग लिखे हुए कागज ज्यो के त्यो है। अब तो भक्त लोगो के आनद की सीमा न रही। वे श्रीविठ्ठल नाम की गर्जना करते हुए तुकाराम के पास आए। महाराज की दर्शन-समाधि खुली ही थी और वे आँखे खोल ही रहे थे कि इन लोगो की आनद गर्जना उन के कानो मे आई। लोग कहते थे "महाराज उठिए। आप की भक्ति से प्रसन्न हो परमात्मा ने आप के अभग पानी मे भी बचाए है। उठिए, देखिए।"

अतःकरण मे सगुण परमात्मा का साक्षात्दर्शन होने का आनद और बाहर लोगो द्वारा बस्ता खोल कर निकाले हुए सूखे अभगो के कागज देखने का आनद। तुकोबा भीतर-बाहर आनद से ही भर गए। आप का जी भर आया। आँखों से आनदाश्रु बहने लगे। 'आहा! परमात्मा ने मेरे अभग पानी मे भी बचाए अर्थात् परमात्मा को मेरे लिए तेरह दिन पानी मे रहना पडा।' इस भोली भावना की लाभदायक कल्पना से ही, उन फूलो से भी कोमल मन के भक्तराज का हृदय पिघलने लगा। इसी सुख-दुःख मिश्रित प्रेम की अवस्था मे आप के मुख से सात अभग निकले। अभग रचने की मनाही होने पर फेंके हुए अभग पानी मे तेरह दिन सूखे रह कर निकलने के बाद पहले ही पहले मुख से निकले हुए ये सात अभग भक्तो ने उसी वक्त उतार लिए। अब आप की अभग-वाणी को ईश्वर-प्रसाद का साथ मिलने से विशेष महत्व प्राप्त था। इस के बाद प्रायः आप के अभग अन्यान्य लेखको के ही हाथ के लिखे मिलते हैं। पर इन अभगो की मृदुता कुछ और ही है। ये सातो अभग प्रेम-रस मे सने हुए है। इन पर से उस समय की तुकाराम महाराज की मनः-स्थिति साफ-साफ दिखाई देती है। आप कहते है—"महाराज, मैंने बड़ा अन्याय किया। मैंने आप का अत देखा। लोगो के बोलने से अपना चित्त दुखाया। मुझ-से नीची जाति के अधम के लिए मै ने आप को तकलीफ़ दी और आप को थकाया। तेरह दिन अपनी आँखे मूँद मैं यहाँ पड़ा रहा। भूख, प्यास और मन की इच्छा तीनो का भार आप पर डाला और अपना योग-क्षेम आप से ही कराया। पानी मे कागज आप ने बचाए, मुझे लोक-निदा से बचाया और इस तुकाराम के लिए आप ने अपना प्रण निबाहा।" "पर ऐसी क्या मेरे सिर पर तलवार पड़ी थी या पीठ पर वार आया था कि मै ने इतना बखेड़ा मचाया। यहाँ मेरे पास और वहाँ पानी में दो जगह आप को खुद खड़ा रहना पड़ा और इधर और उधर दोनो जगह मुझे आप ने जरा भी धक्का न लगने दिया। लड़का थोड़ा भी अन्याय करे तो माँ-बाप उस की जान लेने तैयार होते हैं। फिर यह तो जरा-सी बात न थी। पर ऐसी बात को तो आप ही सह सकते हो। हे कृपावान् आप-सा दाता कौन है? कहाँ तक आप के गुन बखानूँ? तुकाराम की वाणी तो अब नही चलती।" कोई मेरी गर्दन काटे या दुष्ट तकलीफ दें, पर अब आप को कष्ट हो ऐसा कभी नहीं करूँगा। मुझ ऐसे चडाल के हाथ से एक बार भूल हो गई। आप को पानी में खड़ा कर अपने अभगो के कागज़ बचवाए। इस बात का विचार न किया कि मेरा अधिकार क्या। मैं न समझ सका कि समरथ पर भार कितना डालना चाहिए। हो गया सो हो गया। उस बारे मे अब कुछ बोलना व्यर्थ है। अगले मौक़ों पर तुकाराम ये सब बाते ध्यान में रक्खेगा।" "हे पुरुषोत्तम,

माता से भी कोमल, चद्र से भी शीतल और पानी से भी पतला तू प्रेम की कलोल है। तेरी दूसरी क्या उपमा दूँ ? तेरे नाम पर से वार जाऊँ। अमृत तूने मधुर बनाया। सो तू अमृत से भी मधुर है। पच-तत्वों का उत्पादक और सब सत्ता का नायक तू ही है। अब बिना कुछ बोले तेरे चरणों पर सीस धरता हूँ। हे पढरीनाथ, तुकाराम के सब अपराधो को क्षमा करो।"

इस प्रसग से तुकाराम की कीर्ति चारों ओर फैलने लगी। यह वार्ता कि परमेश्वर ने पानी में से, तुकाराम जी के अभग बचाए, सब लोगों को ज्ञात हो गई। जिस समय यह वार्ता रामेश्वर भट जी के कानो पर पड़ी, उस समय वे कहाँ थे ? आप ने ये वार्ता आकदी मे सुनी। उस समय आप आकदी अपनी देह-पीड़ा निवारण करने के हेतु से अनुष्ठान कर रहे थे। आप के देह मे जलन होती थी। यह जलन पैदा होने का कारण यों हुआ। तुकाराम जी ने अपने अभग सचमुच नदी मे फेक दिए, यह वार्ता सुन कर रामेश्वर भट मन में दुखी हुए। वे स्वभाव से दुर्जन नहीं थे। लोगो के भड़काने से भड़क गए थे। इस लिए वह जोश कम होते ही आप को बुरा लगा। पर अब क्या ? होना था सो हो चुका था। इसी मन की अवस्था मे आप एक बार नागनाथ महादेव के दर्शन को गए। यह स्थान पूने मे आज भी विद्यमान है। उस समय पूना बड़ा शहर न था। वह 'पुनवाड़ी' नाम की एक छोटी सी बस्ती थी और उस का 'लोहगाँव' कसबे मे ही समावेश होता था। नागनाथ के दर्शन को जाने के पूर्व रामेश्वर भट जी नहाने के लिए एक बावली मे उतरे। यह बावली आज तक भी पूने मे मौजूद है। इसी बावली पर अनघड़शाह नाम का एक फक़ीर रहता था। उस ने रामेश्वर भट्ट जी से मना किया, पर आप ने न माना। स्नान करते ही आप के शरीर मे जलन होना शुरू हुआ। दर्शन कर आप वापस गए, अनेक उपाय किए, पर जलन होती ही थी। इस जलन की शाति करने के हेतु से आप आकदी जा कर अनुष्ठान कर रहे थे। शरीर तथा मन दोनो दुखी रहते हुए ही रामेश्वर भट जी ने यह तुकाराम के अभग नदी में से सूखे निकलने की वार्ता सुनी। अब तो आप को अधिक ही बुरा मालूम होने लगा। इसी अवस्था मे आप के स्वप्न में श्रीज्ञानेश्वर महाराज ने आ कर तुकाराम की क्षमा माँगने के लिए कहा। आप ने अपने एक शिष्य के हाथ तुकाराम जी के पास अपना क्षमा-पत्र भेजा। तुकोबा ने उस शिष्य का सत्कार कर पत्र को वदन किया और पत्र पढ़ने के बाद उत्तर में एक अभग लिख भेजा। अभ ग का अर्थ यह था कि "अगर चित्त शुद्ध हो तो शत्रु भी मित्र हो जाता है। उसे बाघ या साँप खा नहीं सकता। उस के लिए विष भी अमृत बनता है, आघात हितकर होते हैं और बुरी बाते भी भली बन जाती हैं। दुःख भी सब प्रकार से सुख देने लगता है। आग की ज्वालाएँ ठडी पड़ती हैं। वह प्राणिमात्र को प्राणों से भी प्रिय होता है और उस के भी मन में सबों के प्रति एक ही भाव रहता है। तुकाराम समझता है कि नारायण की कृपा इसी अनुभव से जानी जाती है।" इस उत्तर को पढते ही रामेश्वर भट जी के देह की जलन शांत हुई। थोडे ही दिनों में रामेश्वर भट जी स्वयं श्रीतुकाराम महाराज के भक्त बन गए। महाराज भी आप का बहुत आदर करते और कई बातो में आप से सलाह लेते।

पहले दो साक्षात्कारो की अपेक्षा इस साक्षात्कार का महत्व अधिक था। तुकाराम की ईश्वर के प्रति जो श्रद्धा थी वह तो इस साक्षात्कार से बढ़ ही गई, परतु इस साक्षात्कार के कारण तुकाराम जी के प्रति जो लोगो की श्रद्धा थी वह भी बढ गई। इस के बाद भी तुकाराम को कुछ लोगो ने कष्ट दिए, पर उन कष्टो की तुलना इस आपत्ति के साथ नही हो सकती। इस आपत्ति से तुकाराम जी के श्रद्धादि सब गुण कसौटी पर परखे गए और लोगो को ज्ञात हो गया कि यह माल बिल्कुल खरा है। श्रद्धा के अतिरिक्त तुकाराम जी का अब अधिकार भी बढ़ गया। अब आप अनुभव-युक्त वाणी से उपदेश करने लगे। परमात्मा भाव-भक्ति से दर्शन देता है, भक्तों का सकट निवारण करता है, सतो का प्रतिपाल करता है, असतो को सज्जन बनाता है इत्यादि बाते उन के मुख से निकलते समय अब केवल कोरी शब्दो मे न रहती। अब उन मे अनुभव की सामर्थ्य रहती और इसी कारण वे शब्द अब केवल श्रोताओ के एक कान मे से भीतर घुस दूसरे कान मे से सीधे बाहर न निकल जाते पर ठेठ हृदय को स्पर्श कर उसे जगाते। अगली वारी के समय पढरपूर मे सब सतो मे भी आप का बडा आदर हुआ। ज्ञानेश्वर, नामदेव और एकनाथ के साथ भक्त लोग सतो मे तुकाराम का भी नाम लेने लगे।

इस प्रकार से श्रीतुकाराम महाराज सकटो की कसौटी पर परखे गए। इस के बाद भी उन के क्रोध की परीक्षा दो बार हुई पर दोनो बार आप पूर्णतया विजयी हुए। पहला प्रसग आप पर लोहगॉव मे आया। पहले एक बार हम कह आए हैं कि श्रीतुकाराम महाराज के कीर्तन लोहगॉव मे बहुत होते थे। इस गॉव के लोगो की श्रीतुकाराम पर इतनी भक्ति थी कि उन की मृत्यु के पश्चात् लोहगॉव के लोगो ने वहॉ श्रीतुकाराम जी का मदिर बनाया। लोहगॉव छोड़ अन्यत्र कही भी आप का मदिर नही है। महाराष्ट्र की तीन विभूतियो मे से श्रीसमर्थ रामदास स्वामी जी के कई मदिर पाए जाते हैं पर श्री शिवाजी महाराज का केवल मालवण मे और श्रीतुकाराम महाराज का केवल लोहगॉव मे। इस गॉव मे श्रीतुकाराम जी पढरी से लौटते समय प्रायः कुछ दिन ठहर कर कीर्तन करते थे। यही पर शिवजी कासार नाम का एक लोहे-ताबे के बर्तनो का व्यापार करनेवाला एक दूकानदार रहता था। यह बडा मालदार था। इस के पास सामान लादने के लिए पाच सौ से अधिक बैल थे। यह स्वभाव से बडा कृपण, कुटिल और निर्दय था। लोहगॉव के सब लोग श्रीतुकाराम जी का अमृत से भी मधुर कीर्तन सुनने जाते पर शिवजी कभी भूल कर भी न जाता। उलटा घर बैठ तुकाराम की हँसी उड़ाता और निंदा करता। इस की स्त्री भी इसी के स्वभाव की, बल्कि कुछ बातो मे इस से भी सवाई थी। एक दिन कुछ लोगो के बडे आग्रह से शिवजी कीर्तन सुनने गया। कीर्तन मे तुकोबा की प्रासादिक वाणी से प्रेम-भरा प्रवचन सुन शिवजी का मन बहुत ही प्रसन्न हुआ। दूसरे दिन फिर गया। उस का भक्तिभाव बढ़ता ही गया और एक सप्ताह के भीतर ही वह तुकाराम जी का भक्त बन गया। एक दिन उस ने सतों को तुकाराम जी के साथ भोजन का निमंत्रण दिया। शिवजी तो बदल गया था पर उस की स्त्री न तो कीर्तन सुनने गई थी न मन मे पलटी थी। इस घरबार डुबोनेवाले तुकाराम जी का भक्त बन अपना पति भी घरबार

न डुबो दे, इस भीति से और क्रोध से उस महामाया ने तुकाराम जी को नहलाते समय उन के शरीर पर उबलता पानी डाला। महाराज के शरीर के रोम सब झुलस गए और जहाँ पानी की धार पड़ी वहाँ फफोले निकल आए। शरीर मे बड़ी दाह होने लगी। तुकाराम जी को शिवजी की स्त्री के विषय में थोड़ा-बहुत लोगों ने कहा भी था और थोड़े-बहुत विरोध की आप ने अपेक्षा भी की थी। पर इस राक्षसी कृत्य की कल्पना किसी को न थी। पर इस हालत मे भी केवल श्रीविठ्ठल का नामस्मरण करने के सिवा आप ने कुछ भी क्रोध न किया। शिवजी का जी व्यथित हुआ पर बेचारा क्या कर सकता था। अपने ही दाँत और अपने ही ओंठ। तुकाराम जी मुकाम खतम होने पर देहू चले आए। पीछे कुछ दिनों के बाद उस स्त्री के शरीर पर कुष्ठ के दाग दिखाई देने लगे। वह बहुत घबराई और मन मे समझी कि उस की दुष्टता का ही वह दड था। अत मे रामेश्वर भट जी की सलाह से जिस स्थान पर तुकाराम जी को नहलाया था वहीं की मिट्टी बदन मे मली गई और वे दाग गायब हो गए। शिवजी के साथ उस की स्त्री भी तुकाराम की भक्त बन गई और श्रीविठ्ठल की सेवा करने लगी।

पाठक इस से यह न समझ ले कि तुकाराम जी को कुछ सिद्धि प्राप्त हुई थी; या उन के शाप से ही ये बातें हुई थी। यद्यपि रामेश्वर भट जी के तथा शिवजी की स्त्री के विषय में यह कल्पना की जा सकती है, तथापि इस कल्पना मे सत्यता का बहुत अश नही। इस दुनिया मे जो अनेक अतर्क्य बाते होती हैं, उन्हीं मे से ये थीं। शाप की कल्पना भी तुकाराम के विषय में की नहीं जा सकती। उस शात और क्षमाशील भगवद्भक्त ने क्रोध पर विजय पाई थी। जहाँ क्रोध नहीं, वहाँ शापवाणी मुख से कैसे निकले? इस की अपेक्षा तो यही कहना अधिक उचित होगा कि ईश्वर को उन की बुद्धि बदलनी थी और उसे बदलने के लिए ये बाते निमित्तमात्र हुई। या ऐसा कहे कि उन की दुष्टता उस चरम सीमा को न पहुँची थी, जहाँ कि सुधार असभव है। उन्हीं के मन मे एक प्रकार का अनुताप हुआ जिस से कि वे शुद्ध हो कर सुधर गए। पर सभी दुष्ट इस प्रकार से सुधरते नहीं हैं। कुछ दुष्ट लोगो की दुष्टता इस हद को पहुँच जाती है कि वहाँ ईश्वर को भी हाथ मल कर चुप रहना पड़ता है। इसी प्रकार का एक ब्राह्मण देहू में ही बिल्कुल तुकाराम के पड़ोस मे रहता था। उस का नाम मबाजी बुवा था। यह देहू में महत समझा जाता था और लोगों को मत्रोपदेश तथा अन्य दांभिक प्रकार से भुला कर उन से पैसे कमाता था। श्रीतुकाराम जी की कीर्ति बढ़ती हुई देख और रामेश्वर भट जी के से विद्वान् ब्राह्मणों को उन का शिष्य बना हुआ देख यह मन ही मन में जलता। यह प्रायः हर एकादशी को तुकाराम का कीर्तन सुनने जाता और कई बार उसे तुकोबा भी उसे बड़े आदर से बुलाते। पर इस के मन पर उस कीर्तन-वचन का कुछ भी असर न होता। ठीक ही है। यदि घडा नीचे को मुँह कर औंधा जमीन पर रक्खा जावे, तो चाहे कितनी भी पानी की वर्षा ऊपर से क्यों न हो, उस के भीतर एक बूँद भी न जाने पावेगा। मबाजी तुकाराम की यथेष्ट निंदा करता, तुकाराम के कीर्तन में आनेवाले लोगों मे लडता, उन्हे तकलीफ़ देता और अपना ही उपदेश लेने की सलाह देता। साराश, जितना कुछ हो सकता था, सब करता। पर एक दिन उसे ऐसा

मौका मिला कि उस के मन का अरमान भी पूरा हो गया और तुकाराम जी की शांति भी पूरी कसौटी पर परखी गई।

हम पीछे कह चुके हैं कि तुकाराम जी के घर के सब काम जिजाई और कान्होबा देखते थे। तुकाराम जी के एक और पुत्र हुआ था जिस का नाम महादेव था। इस लड़के को दूध पिलाने के लिए जिजाई अपने घर से एक भैंस ले आई थी। एक एकादशी के दिन वह भैंस मबाजी बुवा की फुलवाड़ी में घुस गई। यह फुलवाड़ी तुकाराम जी के घर के पास थी और फुलवाड़ी और घर के बीच में से हो कर श्रीविट्ठल-मंदिर को जाने की राह थी। फुलवाड़ी के चारों ओर काँटे लगे थे ताकि जानवर भीतर न जावे। पर तुकाराम जी की भैंस ने उन काँटों की परवाह न कर उस दिन उस फुलवाड़ी में प्रवेश किया और मबाजी बुवा के फूल के पेड़ों मे से कुछ खा डाले और कुछ कुचल डाले। जब उसे फुलवाड़ी में किसी ने हाँका तो दूसरी ही जगह से भागी और उस के दौड़ने से रास्ते भर वे काँटे फैल गए। एकादशी का दिन था, रात को कीर्तन होनेवाला था, और कीर्तन के मार्ग में भैंस ने काँटे फैला दिए; यह देख श्रीतुकाराम महाराज ख़ुद जा कर काँटे झाड़, रास्ता साफ़ कर रहे थे कि मबाजी बुवा घर आ पहुँचे। उन्हें भैंस के अत्याचार की खबर दी गई। क्रोध से भभूके हो कर फुलवाड़ी में आ कर देखा तो कई पेड़ों का नाश नजर पड़ा। क्रोध का ठिकाना न रहा। उसी ग़ुस्से में तुकाराम जी की मूर्ति काँटे साफ करती हुई नज़र आई। क्रोध दिखलाने के लिए स्थान मिल गया। मबाजी ने उन्हीं काँटों में से एक काँटे की छड़ी उठाई और तुकाराम जी की खुली पीठ पर फटकारना शुरू किया। हाथ से फटकार और मुख से गालियाँ। तुकाराम जी शांतिपूर्वक वहीं खड़े रह गए। चार-पाँच फटकार मारने पर कई जगह से जब लोहू बहने लगा, तब मबाजी का क्रोध शांत हुआ और वे अपने घर चले गए। इधर तुकाराम जी महाराज चुपचाप विट्ठल-मंदिर में आए और मन की बातें श्रीविट्ठल से अभंग रूप में कहने लगे। आप ने कहा—"हे विठोबा, कुछ भी तकलीफ जान पर आ पड़े, पर तेरे चरणों को मैं न छोड़ूँगा, न छोड़ूँगा, न छोड़ूँगा। इस देह को कोई शस्त्र से काट कर सौ-सौ टुकड़े क्यों न करे पर मैं नहीं डरूँगा, क्योंकि इस तुकाराम ने अपनी बुद्धि पहले ही से सावधान कर रक्खी है।" आप ने आगे कहा—"हे विठोबा बहुत अच्छा किया, बहुत अच्छा किया कि मेरी क्षमा की सीमा देखने के लिए मुझे काँटों से मरवाया। गाजियों की तो कुछ मर्यादा ही न रही। कई प्रकार से मेरी फ़जीहत हुई, पर यह बहुत अच्छा हुआ कि क्रोध के हाथ से मुझे छुड़वा लिया।" इस का नाम क्षमा और इसी का नाम साधुता है क्रोध या दुःख रहा दूर, ऊपर आनंद इस बात का कि क्रोध के हाथ से छूट गए। पर धन्य है मबाजी के भी क्रोध को और दुष्टता को कि आप ने तुकाराम के से शांति-सागर से भी कहलाया कि "हे देव, अब ऐसे दुर्जनों की संगति बहुत हुई।" इस के प्रायश्चित्त में कि ऐसे भी शब्द मुख से निकल गए, आप ने जा कर उलटी मबाजी की ही क्षमा-याचना की और उसे आदरपूर्वक कीर्तन में बुला लाए। मबाजी ने केवल इतना ही कहा कि "पहले ही क्षमा माँगते तो इतना बखेड़ा क्यों होता?"

मंबाजी ऐसे पुरुषों का या शिवजी की स्त्री ऐसी स्त्रियों का विचार मन में कर के और उन के द्वारा तुकाराम ऐसे सत्पुरुषों को दिए हुए दुःख का दृश्य आँखों के सामने आते ही चित्त उद्विग्न हो जाता है। मन में ऐसा भी विचार आए बिना नहीं रहता कि विधाता ने इन लोगों को दुनिया में क्यों पैदा किया। पर विचार अधिक करने से यह पूर्वोक्त विचार ठहरता नहीं है। यदि दुनिया अच्छे ही अच्छे लोगों से भरी होती, तो सज्जनों की कोई भी कदर न करता। आज गुणों को जो महत्व प्राप्त हुआ है, वह केवल दोषों के ही कारण है। जब तक बुरी बात आँखों के सामने नहीं आती, तब तक अच्छी बात की क़ीमत ही ध्यान में नहीं आती। तुकाराम महाराज ने बहुत ठीक कहा है कि "बुरे के कारण भले की और कमअसल के कारण असल की कदर होती है। एक के बिना दूसरे की कुछ कीमत नहीं। वह व्यर्थ है। विष अमृत की योग्यता बढाता है। उसी प्रकार कड़वा मीठे की और हानि लाभ की। अँधेरे के कारण प्रकाश को और रात के कारण दिन को महत्व है। ऊँचा, नीचा, पत्थर, हीरा इत्यादि पदार्थ एक के बिना एक व्यर्थ हैं। तुकाराम कहते हैं कि "दुर्जनों ही के कारण सज्जन पहचाने जाते हैं।" पर फिर भी अंत में यह कहे बगैर नहीं रहा जाता कि परमात्मा ऐसे लोगों से बचावे।

सप्तम परिच्छेद

सिद्धावस्था और प्रयाण

खग जाने खग ही की भाषा

सासारिक पुरुषो की दृष्टि से श्रीतुकाराम महाराज की जीवनी उन के सिद्ध होते ही समाप्त हो चुकी। सिद्धावस्था को पहुँचने के बाद तुकाराम जी ने जो कुछ किया उस की ओर दो दृष्टियो से लोग प्रायः देखते हैं। एक भक्तों की दृष्टि से और एक सासारिक दृष्टि से। भक्तो को तुकाराम जी मे और ईश्वर में कुछ भेद ही न दीखता था। वे उन को ईश्वर स्वरूप ही मानते थे। अतएव उन सब बातो मे, जो कि सृष्टि के नियमो के अनुसार अतर्क्य समझी जाती थी और जिन के लिए किसी न किसी प्रकार से तुकाराम जी निमित्त कारण थे, भक्त लोग उन्हे ही मुख्य कारण समझते हैं। पश्चातर में उन सब बातो के लिए जो कि सृष्टि-नियमों के अनुसार हो रही थी, और जिन के लिए भी तुकाराम जी केवल निमित्त मात्र ही थे, अभक्त लोग उन्हे ही दोष देते हैं। उदाहरणार्थ तुकाराम के भावी चरित्र में जो कुछ दैवी चमत्कार हुए उन का कारण भक्त लोग तुकाराम को ही समझते हैं, तो घर-बार की फिक्र न करना, पर एक के पीछे एक सतान पैदा करते ही जाना, उन के पेट की, लड़को की शिक्षा की या लड़कियो के विवाहो की कुछ फिक्र न करना इत्यादि बातो का दोष अभक्त लोग तुकाराम जी के ही सिर पर मढते हैं। पर वास्तव मे देखा जाय तो श्रीतुकाराम महाराज न पहले प्रकार की बातों के लिए न दूसरे

प्रकार की बातों के लिए जवाबदार समझे जा सकते हैं। उन की दृष्टि से जब सब संसार स्वप्न-सा मिथ्या था तो समार में जो कुछ बातें हो रही थी वे भी सब मिथ्या थीं और इस सत्यमिथ्या के झगडे में वे यदि सदा सत्य का ही पक्ष लेते और झूठी बातों की परवाह न करते तो उस में उन का क्या दोष था ? मबाजी के हाथ से कॉटों की छडी पीठ पर पड़ते हुए उन का देह जैसे अवश्य लोहू से भर गया वैसे ही स्त्री समागम के समय उन के देह को सुख भी मिला। परतु जिस प्रकार पहले देह-दुःख से उन्हो ने अपना मन न दुखाया, प्रत्युत जो कुछ ईश्वरी इच्छा से हुआ उसी मे सुख ही माना, उसी प्रकार सतति को देख भी उन्हो ने अपने मन को उस में न लुभाया। वे तो पूर्ण विरक्त स्थिति से इस ससार में रहते थे। ईश्वर स्वरूप का दर्शन हो कर हृदय-पटल पर का मल दूर होते ही वे मुक्त हो चुके थे। पर जब तक देह था, देह के धर्म सृष्टि नियमो के अनुसार हो रहे थे। उन कामों के लिए या उन से प्राप्य फलो के लिए न उन की इस प्रकार की इच्छा थी न उस प्रकार की। सुख तथा दुःख दोनों विषय मे वे एक से ही अनासक्त थे। अर्थात् एक प्रकार के कामो के लिए न उन की स्तुति की जा सकती है, न सिद्धावस्था मे किए हुए दूसरे प्रकार के कामो के लिए निदा। अतएव इन सब प्रसगों पर कुछ भी टीका-टिप्पणी न करना ही उचित है। जो प्रसग भले या बुरे आ गुजरे उन का निषेध न भक्त कर सकते हैं न अभक्त। बाते वही हैं, केवल भेद है इस विषय में कि तुकाराम जी पर उन के गुण-दोष कितने लादे जा सकते हैं। सो इस झगडे मे न पड़ दोनों प्रकार की कुछ बातों का सक्षेप में लिख कर और उन के प्रयाण का वर्णन कर यह जीवन-खड से भरा हुआ पूर्वार्द्ध पूरा करने का विचार है।

सब से पहले जिस ससार को तुकाराम झूठ समझते थे उसी ससार में उन के गृह-कृत्यों का विचार करे। गत परिच्छेदों मे तुकाराम की दो सतान का उल्लेख आ चुका है—कन्या काशी और पुत्र महादेव। जिजाई के और भी चार सतान हुई। अर्थात् कुल मिला कर छः सतान थी जिन के नाम क्रम से काशी, महादेव, भागीरथी, विट्ठल, गगा और नारायण थे। काशी सब से बड़ी थी और घर के कामों में जिजाई की बड़ी मदद करती थी। वह जिजाई की आज्ञानुसार चलती और कई बार तुकाराम जी के लिए खाने-पीने की चीज़ें ले कर उन्हे भडारा के पहाड़ पर पिता के पास पहुँचा आती। जिजाई तो ससार-दुःख से कँदरी थी ही। कई बार अपने ससार की ओर दुर्लक्ष्य करने के विषय में वह तुकाराम से बोलती। पर नीद मे बकवाद करनेवाले के बकने पर जैसा कोई जागता पुरुष ध्यान नहीं देता, वैसे ही उस के बोलने पर तुकाराम जी कुछ न ध्यान देते। उलटे हँसते और उसे संसार का मिथ्यात्व समझाते जो उसे कभी न समझ में आता। काशी के आठ दस साल की हो जाने के बाद एक दिन जिजाई उस के विवाह के विषय में तुकाराम के पीछे पड़ी। आप ने सुना और एक दम उठे। बाहर आ कर कुछ लड़के खेलते थे उन में से दो लड़कों का हाथ पकड़ घर में ले गए और चार ब्राह्मणों को बुला कर काशी और भागीरथी की हल्दी चढाई और टीका निश्चित किया। तुकाराम जी के समधी होने का भाग्य समझ उन लड़को के माता-पिताओ ने इन्कार नहीं किया और दोनो विवाह हो गए। महादेव

और विट्ठल दोनो दिन भर बाहर खेलते रहते। उन्हे शिक्षा देने का किसी ने प्रबध न किया। दिन-रात जिजाई की बाते सुनते-सुनते कुछ आश्चर्य नहीं कि उन के मन में तुकाराम जी के विषय मे कुछ आदर न रहा हो। तुकाराम जी के पश्चात् इन दोनो का भी नाम विशेष सुनने मे न आया। गगू का भी विवाह इसी प्रकार से हो जाता अगर वह बड़ी होती। उस का विवाह तुकाराम की मृत्यु के पश्चात् हुआ। तुकाराम जी के इन तीनो दमादो के कुल-नाम मोभे, गाडे और जाबुढकर थे। लड़कियो मे केवल भागीरथी पितृ भक्त तथा भगवद्भक्त थी। उस का पति मालाजी भी तुकाराम जी का भक्त था। तुकाराम जी ने उसे एक गीता की पोथी दी थी जिस से वह नित्य गीता-पाठ करता। तुकाराम जी के पुत्रों मे सब से कनिष्ठ नारायण था। इस का जन्म पिता की मृत्यु के चार महीने पश्चात् हुआ। अर्थात् इस ने पिता का मुख भी न देखा था। परतु तुकाराम जी के पश्चात् इसी पश्चाज्जात लड़के ने उन का नाम चलाया। श्रीशिवाजी महाराज से इस ने फिर देहू गाँव की महाजनी के अधिकार प्राप्त किए और मदिर के इनामी गाँवो की तथा मदिर की देख-भाल इसी ने अपने हाथों मे ली। आज भी देहू का मंदिर तथा वहाँ के अधिकार इसी के वशजो के हाथ मे हैं।

अब जो कुछ चमत्कार तुकाराम जी के चरित्र मे पाए जाते हैं, उन्हे भी सक्षेप मे पाठकों को सुनावें। इद्रायणी के तीर पर तुकोबा प्रायः भजन करने बैठते। एक बार पास के ही खेतवाले ने इन से कहा, 'महाराज, आप भजन करने बैठते ही हो। मेरा खेत भी यहीं पास है। अगर आप यहाँ बैठे-बैठे खेत की निगरानी करे, तो मैं आप को बीस सेर जवार दूँगा।' महाराज ने बात मान ली और खेत के पास भजन करने बैठे। हाथ में झाँझ, मुख से अभग। झाँझ की आवाज से प्रायः पखेरू खेत पर न आते। एक दिन जब कि जवार बिल्कुल कटने को थी, आप ध्यान में मग्न हुए। झाँझ की आवाज बद हो गई। चिड़ियो को खुला खेत मिला। वे आ बैठी और खेत चुगने लगी। थोड़ी देर में आप के भजन का आरभ होते ही चिड़ियाँ उड़ने लगी। आप समझे कि आप के डर से ही वे उड़ी। देख कर खेद हुआ और मुख से अभग निकला कि "पाडुरग विट्ठल की कृपा का विश्वास तो तभी कहना चाहिए, जब कि प्राणिमात्र एक-सा दिखाई दे। मुझ से शंका करने का किसी को कारण नहीं। मुझे तो सब दुनिया एक रूप है। तुकाराम जिसे-जिसे देखता है, उसे वह आप ही-सा समझता है।" विचार मे मग्न होते ही फिर से चिड़ियाँ खेत पर बैठने लगी। इसी अवसर में वह किसान भी कही से आ निकला। देखा तो चिड़ियाँ खेत चुग रही हैं। तुकाराम जी को क़बूल किया धान्य न देना पडे, इस लिए किसान पचो के पास जा कर बोला, "तुकाराम जी के खेत को देखते-देखते ही चिड़ियाँ खेत खा गई हैं। मेरा लगभग सौ मन का नुक़सान हुआ है। अब क्या किया जावे।" पचों ने आ कर जवार कटवाई। देखा तो लगभग डेढ सौ मन दाना निकला। किसान की बद-माशी समझ पचो ने निर्णय दिया कि सौ मन जवार उस किसान को दी जावे और बाक़ी तुकाराम जी के घर पहुँचाया जावे। बोरियाँ भर तुकाराम के घर भेजी गई। जिजाई बड़ी ख़ुश हुई। पर तुकाराम जी अड़ बैठे। बोले बीस सेर से दाना अधिक न लिया

जावेगा। जिजाई चिल्लाने लगी 'बोरी घर आती है, पर तो भी ये कभी सुख से बच्चों को न खाने देंगे। ये तो लोगों का ही घर भरेंगे और चोट्टे खानेवाले इसे खा जावेंगे।' आखिर पचों की राय से कुछ दाना ब्राह्मणों को बाँटा गया और बाकी दाने की कीमत से मंदिर की मरम्मत कराई गई।

तुकोबा और जिजाई के ऐसे झगडे कई बार होते थे। एक बार एक गन्ने के खेतवाले ने तुकोबा और कुछ सतो को रस पीने के लिए बुलाया। जाते-जाते जिजाई ने जताया कि 'देखो जी, वह खेतवाला तुम्हे कुछ गन्ने जरूर देगा। सँभाल कर उन को घर ले आइयो।' हुआ वैसा ही। रस पिलाने के बाद गन्नेवाले ने दस-बारह गन्ने बाँध कर इन्हे घर ले आने के लिए दिए। घर लौटते समय रास्ते मे कुछ लडके 'तुकोबा गन्ना, तुकोबा गन्ना' कहते इन के पीछे पडे। लड़को को नहीं कैसे कहा जाय? एक-एक टुकड़ा कर आप लड़को को गन्ने बाँटने लगे। आखिर घर आते वक्त एक गन्ना दाहिने हाथ मे और एक बाएँ मे—बस ऐसे दो गन्ने ले कर महाराज घर पधारे। इधर जिजाई को पहले ही खबर लग चुकी थी कि महाराज गन्ने बाँटते आ रहे हैं। उन्हे दो ही गन्ने हाथ मे लिए देख जिजाई क्रोध से जलने लगी। जब तुकाराम जी ने दो ही गन्ने सामने ला कर रक्खे, उस ने दोनो उठा कर जोर से जमीन पर फेक दिए। दो के चार टुकडे हुए। जिजाई को बिगड़ता देख आप हँस पडे और बोले, "क्या अच्छी बाँट हो गई। एक टुकड़ा मुझे और एक तुझे। बाकी दो दोनो लडको के। एक महादेव का और एक विठोबा का हिस्सा। झगड़े का काम ही नहीं।" जिजाई के क्रोध का रूपातर हँसी और आँसुओ में होने लगा। आप मुसकुरा कर बोले, "बादल के इतने जोरो से गरजने के बाद बिजली की चमक तथा पानी की वर्षा होनी ही चाहिए।"

लोहगाँव में तुकोबा के कीर्तन बहुत होते थे और सब गाँव का गाँव इन कीर्तनों को सुनने के लिए दौड आता था। इस गाँव के पटेल अंबाजी पत कुलकर्णी तुकाराम जी के परम भक्त थे। एक बार जब कि तुकोबा लोहगाँव आए, अबाजी पंत का लड़का घर में बहुत बीमार था। कीर्तन के लोभ से आप घर में लड़के को उस की माँ के पास छोड जाने लगे। आप की पत्नी और पड़ोसी बहुत नाराज होने लगे। दुनियादारी में ऐसे मौके क्या थोडे आते हैं, जब अपनी नौकरी के लिए मरता हुआ बच्चा घर छोड़ लोगों को जाना पड़ता है? पर उस समय कोई कुछ नहीं कहता। परतु यदि कोई बीमार बच्चे को छोड़ कीर्तन-भजन को जावे तो सासारिक लोगो का माथा ठनक पड़ता है। कई लोग अबाजी पत पर नाराज हुए। पर आप ने किसी की न मानी। कीर्तन को जा ही बैठे। इधर घटे आध घटे में बच्चे की साँस बद हो गई। मा की क्रोधाग्नि में शोकाग्नि भी आ मिली। पड़ोसियों की बातों ने ईंधन का काम किया। शोक-क्रोध से जलती मा बच्चे को उठा कर वैसा ही कीर्तन में ले आई और तुकोबा के सामने बंद साँस का वह बच्चा उस ने रख दिया। कीर्तन में खलबली मच गई। तुकोबा ने बच्चे की ओर देखा, लोगों को शात किया और अभग गाने लगे "हे नारायण, अचेतन को सचेतन करना आप के लिए असभव नहीं। आप ने जैसी सामर्थ्य पुराण-काल में दिखाई थी, वैसी ही आज दिखावें तो क्या हानि

है ? इसी काल मे वह सामर्थ्य क्यो न दिखाई दे ? यह क्या थोड़ा है कि आप ऐसे सर्वशक्तिमान् स्वामी के हम लोग दास कहलाते है ? तुकाराम की तो यह प्रार्थना है कि अपनी सामर्थ्य दिखा कर एक बार तो हम लोगो के नेत्रो को कृतार्थ कीजिए।" गाते-गाते आप ने श्रीविट्ठल नाम का घोष शुरू किया। सब सभा ताली बजाती विट्ठल-विट्ठल कहती भजन करने लगी। बच्चे की भी साँस खुल गई। उस ने आँखे खोल दी और वह भी अपने नन्हे-नन्हे हाथो से तालियाँ बजाने लगा।

वही लोहगाँव का स्थान और वही श्रीतुकाराम महाराज के कीर्तन का प्रसग। आज श्रोताओ की खूब भरमार है क्योकि आज खुद श्रीशिवाजी महाराज कीर्तन सुनने पधारे है। शिवाजी महाराज के घोड़ा और जवाहर भेज कर श्रीतुकाराम जी को बुलाने का हवाला पहले एक बार हम दे चुके हैं। जवाहर वापस भेजने के कारण और साथ भेजे हुए अभगो के पढने से तुकोबा की जो निस्पृहता दीखती थी, उस पर शिवाजी बड़े प्रसन्न हुए। यदि तुकोबा जी दर्शन देने नहीं आते, तो स्वय ही शिवाजी ने उन के दर्शन को जाने का निश्चय किया। श्रीशिवाजी के सलाहकार लोगो ने इस साहस-कर्म से शिवाजी को मना किया क्योकि लोहगाँव उस समय मुसलमानो के शासन मे था और वहाँ जाने से महाराज के पकडे जाने का भय था। पर आप ने किसी का कहना न माना और सादी पोशाक मे लोहगाँव आ कर श्रोताओ मे आ बैठे। इधर मुसलमानो को खबर लगी कि शिवाजी महाराज कीर्तन सुनने के लिए आए है। फौरन शिवाजी को पकड़ने के लिए पठानो की फौज भेजी गई। शिवाजी महाराज के दस-बीस अनुचर जो आप का रक्षण करने आए थे, यह खबर सुन कर व्यथित हुए और उन्हो ने आ कर शिवाजी को यह खबर दी और शिवाजी को चले जाने की सूचना दी। किसी अवस्था में कीर्तन छोड़ कर न जाने पर तुकाराम जी का प्रवचन जोर-जोर से हो रहा था। अतएव शिवाजी के मन में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या किया जावे। तुकोबा से पूछा गया पर आप अपने व्रत पर अडे रहे और कह दिया कि "कुछ चिता न करो। किसी प्रकार के सकट से डरने की आवश्यकता नही। नारायण अपने दासो की सदा सहायता करता है, और स्वय उन की रक्षा करता है। भक्तो को न तो कुछ करने की जरूरत न कुछ बोलने की। तुकाराम के मत से इस विषय में शका ही न करनी चाहिए और एक अक्षर भी न बोलना चाहिए।" शिवाजी को इस प्रकार से दिलासा दिया और कीर्तन मे बिठोबा ने पुकार शुरू की "हे देव, इस प्रकार की पीडा आँखो से नही देखी जाती। दूसरो को दुखी देख मेरा चित्त दुखी होता है। क्या ऐसा हो सकता है कि आप यहाँ पर न होगे ? हमे तो कम से कम ऐसा न दिखाई देना चाहिए। जहाँ हरिदास होगे वहाँ पर शत्रुओ की फौज केसे ठहर सकती है ? हरिदासो का स्थान तो वे आँखो से भी न देख सकेगे। अगर इस के विरुद्ध कुछ हो जावे, तो तुकाराम की सेवा को लाज आवेगी और उस का जीवन किसी काम का न रहेगा।" तुकोबा का प्रवचन बड़े जोर से हो रहा था कि कुछ शिवाजी के-से लोग घोड़ो पर से दौडे और उन्हे शिवाजी और मराठे सिपाही जान पठान उन का पीछा करने चले। आखिर ये पहाड़ी चूहे पहाड़ो में भाग गए और पठान ताकते ही रह गए। कीर्तन समाप्त होने पर शिवाजी महाराज भी तुकाराम

जी को वंदन कर और उन का आशीर्वाद शीश पर धारण कर वापस गए।

इस चरित्र के पाठक यह बात न भूले होंगे कि आकदी का स्थान अनुष्ठान करने के लिए प्रसिद्ध था। उन दिनों श्रीज्ञानेश्वर बडे जागृत देवता माने जाते थे। रामेश्वर भट अपने शरीर का दाह शात करने के लिए यहीं अनुष्ठान करने गए थे। उसी प्रकार अनेक लोग—विशेषतः ब्राह्मण—वहाँ जा कर अनेक प्रकार की कामना से अनेक प्रकार के अनुष्ठान करते थे। धन और ज्ञान-प्राप्ति करने के लिए एक ब्राह्मण ज्ञानेश्वरजी के पास बयालीस दिन अनशन करता अनुष्ठान कर रहा था। बयालीसवी रात को उसे स्वप्न हुआ कि "तुकाराम जी के पास देहू जाओ। वहाँ तुम्हारे मनोरथ पूरे होंगे।" ब्राह्मण ने आ कर श्रीज्ञानेश्वर जी का सदेश तुकाराम जी से कहा। तुकाराम जी को इस प्रकार की प्रतिष्ठा से घृणा थी। पर श्रीज्ञानेश्वर जी की आज्ञा मान, उन्हों ने दूसरे एक भक्त की ओर से आया हुआ नारियल उस ब्राह्मण को दिया और ग्यारह अभग उसे लिख दिए। ब्राह्मण की तुकाराम के प्रति श्रद्धा न थी। उस ने वे अभग और वह नारियल वहीं छोड़ वहाँ से कूच किया। इतने ही मे श्रीशिवाजी महाराज के पुराणिक का पानी भरनेवाला ब्राह्मण कोडोवा वहाँ आया। तुकाराम जी ने वे अभग नारियल के साथ उसे दे डाले। अभगो मे बडा अच्छा उपदेश किया था कि "ईश्वर के पास मोक्ष इत्यादि पुरुषार्थों की गठरी नहीं है कि वह अलग उठा कर तुम्हारे हाथ में रख दे। इंद्रियो को जीत कर और मन को क़ाबू मे रख किसी साधना के लिए निर्विषय-निरिच्छ होना चाहिए। उपवास, पारण, व्रत, वेदमत्रो के पाठ इत्यादि सब कर्मो का फल सात है अर्थात् उस का फल थोडे नियमित दिन तक ही मिलता है। सावधानता से मन की इच्छाएँ दूर की जावे तो दुःख की प्राप्ति सुलभतापूर्वक टाली जा सकती है। स्वप्न में लगे घावों से व्यर्थ रोने वालों के साथ तुम भी क्यो रोते हो। तुकाराम के मन से फल प्राप्त करना हो तो जड़ को सँभालना चाहिए और सब काम छोड ईश्वर की शरण लेनी चाहिए।" कोडोवा ने श्रद्धा-पूर्वक अभगो का पाठ किया और थोडे ही दिन मे विद्याभ्यास कर वह अच्छा पडित हो गया। कुछ दिन बाद जब कोडोवा ने नारियल फोड़ा तो उस के भीतर से सुवर्णमुद्रा और मोती निकले। पीछे से पता लगा कि अहमदाबाद के एक मारवाडी भक्त ने वह नारियल तुकाराम जी को गुप्त-दान करने के लिए भेजा था। ज्ञानेश्वर जी की ओर से आए ब्राह्मण के चले जाने पर आपने ज्ञानेश्वर जी को सदेश भेजने के अर्थ से कुछ अभग किए। ये अभग बड़ी लीनता से भरे हुए हैं। एक अभग में कहा है कि "महाराज, आप सब ज्ञानियों के राजा हो और इस लिए आप को ज्ञानराज कहते हैं। मुझ ऐसे नीच मनुष्य को यह बड़ापन काहे के लिए? पैर की जूती पैर मे ही ठीक रहती है। ब्रह्मा आदि देव भी जहाँ आप की शरण आते हैं वहां दूसरे किस की आप के साथ तुलना की जावे? तुकाराम को तो आप की गहरी युक्तियाँ नहीं समझती और इसी लिए वह आप के पैरों पर अपना सिर झुकाता है।"

कोडोपत लोहोकरे नाम का एक पुनवाडी का ब्राह्मण कीर्तन करते समय तुकाराम जी के साथ मृदग बजाया करता। एक बार कुछ धनी लोग काशी-यात्रा जाने की

इच्छा से तुकाराम जी की आशीस लेने आए। उन लोगों को देख कोंडोपत के भी मन में काशी जाने की इच्छा हुई, पर द्रव्याभाव के कारण वे चुप हो रहे। तुकाराम जी ने उन की इच्छा पहिचान एक होन उठा कर उन्हें दिया और कहा कि "जिसे जाने की इच्छा है उस के लिए एक होन बहुत है। प्रतिदिन एक होन मिलना कठिन नहीं और एक होन से अधिक एक दिन में खर्च करने की भी आवश्यकता नहीं। रोज इस होन को भँजा कर खर्च करो पर कम से कम एक पैसा रोज बाकी रक्खो। दूसरे दिन तुम्हें फिर होन मिलता जावेगा।" कोंडोपत ने एक दिन परीक्षा ली। सब खर्च कर शेष पैसे सिरहाने रख सो गया। सुबह देखता है कि पैसे गायब और उन के स्थान में दूसरा होन तैयार। कोंडोपत को विश्वास हुआ और उन्हीं लोगों के साथ हो गया। तुकाराम जी ने कोंडोपंत के साथ गंगामाई को, विश्वनाथ को और विष्णुपद को एक-एक ऐसे तीन अभंग दिए। विश्वनाथ जी से आप की प्रार्थना थी कि "शंकरजी, आप तो हो विश्व के नाथ और मैं तो हूँ दीन अनाथ। मैं बौरा आप के पैर गिरता हूँ। आप जो कुछ कृपा करें वह थोड़ी ही मुझे बहुत है। आप के पास कुछ कमी नहीं और मेरे संतोष के लिए अधिक की आवश्यकता नहीं। महाराज, तुकाराम के लिए कुछ प्रसाद भेजिए।" कोंडोपत की सब तीर्थयात्रा उसी होन पर निभ गई। प्रतिदिन उसे एक होन मिलता रहा। ब्राह्मण चार महीने काशी में रह कर लौटा। घर आने पर होन अपने पास ही रखने की इच्छा से तुकाराम जी से झूठ मूठ आ कर कहा कि होन खो गया। तुकाराम जी हँस कर चुप हो गए। घर जा कर कोंडोपत ने देखा तो होन सचमुच ही खो गया था। तुकाराम जी के पास दूसरे दिन आ कर अपना-अपना अपराध कबूल किया और असत्य-भाषण के लिए क्षमा माँगी।

श्रीतुकाराम जी महाराज की आसाढ कार्तिक की पंढरपुर की वारी बराबर जारी थी। केवल एक कार्तिकी की एकादशी को आप बहुत बीमार होने के कारण न जा सके। जिस समय दूसरे वारकरी लोग पंढरी जाने के लिए निकले, तब आप ने कुछ अभंग लिख कर श्रीविट्ठल की सेवा में भेजे। तुकाराम-सा प्रेमी भक्त, कार्तिकी एकादशी का-सा पुण्यकारक आनंद-प्रसंग और केवल देह-दुःख के कारण पंढरी तक जाना असंभव! इस स्थिति में क्या आश्चर्य कि तुकाराम जी का जी तड़फता रहा और 'देह देहू में पर मन पंढरी में' यह स्थिति हुई। इस अवसर पर जो अभंग आप के मुँह में से निकले, उन में तुकाराम जी का हृदय बिल्कुल निचोड़ा पाया जाता है। करुणरस से वे अभंग भरे हुए हैं। पत्र का आरंभ इस प्रकार है। "हे संतो, मेरी ओर से श्रीविट्ठल से विनती करो और पूछो कि मेरे किन अपराधों से मुझे इस बार श्रीविट्ठल के चरणकमलों से दूर रहना पड़ा। अनेक प्रकार से मेरी करुण-कहानी पंढरीश को सुनाओ। तुकाराम को तो इस बार पंढरी और पुंडलीक के ईंट पर के श्रीविट्ठल के चरण देखने की आशा नहीं है।" कुछ अभंगों के बाद आप कहते हैं, "हे नाथ, मेरे कौन से गुणदोष समझ कर आप ने ऐसी उदासीनता धारण की है? अन्यथा आप के यहाँ तो कोई अयोग्य बात होने की रीति नहीं है। अतएव इस का विचार मुझे ही करना चाहिए कि आप के प्रति मेरा भाव कैसा है। तुकाराम तो यही समझता है कि उसी के बुद्धि-दोष से आप ने उसे दूर किया है।" कुछ

अभगो के बाद आप ईश्वर पर नाराज हो कहते है, "अगर मन में इतना छोटापन है, तो हमें पैदा ही क्यो किया ? हम दूसरे किस के पास मुँह फाड रोवे ? अगर आप ही मुझ को छोड़ देंगे, तो दूसरा कोन इस बात की खबर लेगा कि मैं भूखा हूँ या नही ? अब और किस की राह है, किधर देखूँ, कौन मुझे गले लगावेगा ? मेरे मन का दुःख कौन पहचानेगा और कौन इस सकट में से मुझे उबारेगा ? हे पिता, क्या आप ऐसा तो न समझ बैठे कि तुकाराम अब अपना भार स्वय उठा सकता है ?" आगे "महाराज, आप तो आज पूरे पूरे लोभी बन गए हो। धन ही धन जोड़ने के पीछे पड़ा वह धन के लिए ही पागल बन जाता है। फिर उसे और कुछ नही दीखता। अपने बाल-बच्चे तक उसे प्यारे नही लगते। पैसे की तरफ देखते उसे सब बाते फीकी मालूम देती है। तुकाराम समझता है कि आप को भी इसी तरह से लालच आ गई है।" इसी चित्तावस्था मे आप को गरुड़ जी के दर्शन हुए। गरुड़ जी बोले, "अगर आप चाहे तो आप को पीठ पर पढरपुर ले चलूँ। देव आप को भूले नही हैं। पर इतने भक्तो को छोड वे कैसे आप के पास आ सकते हैं ? अगर वे यहाँ चले आवे तो पढरपुर में कैसा रग में भग हो जावे ?" तुकाराम जी समझ गए। आप के चित्त को शाति प्राप्त हुई कि श्रीविट्ठल मुझे भूले नही है। पर भगवान् के वाहन पर बैठ पढरपुर जाना आप ने उचित न समझा। आप देहू ही रहे। सत लोग पढरपुर से लौटते समय इस बार देहू आए और देहू मे ही थोडे समय के लिए पढरपुर हो गया। तुकाराम जी के अभग खूब गाए गए।

तुकाराम जी के अभगो की कीर्त्ति उन के जीवन-काल में ही खूब फैल गई। इन के अभग लोग लिख ले जाने लगे और गाने लगे। तुकाराम अपनी पहचान रखने के लिए अपने अभगो के अतिम चरण में 'तुका' पद रख देते थे। पर तुक से तुक मिला कर कवि बननेवाले बहुत से कवि तुका का नाम अपने ही बनाए हुए अभगो मे रख देते। फल यह होता कि इस बात को पहचानना बड़ा कठिन हो जाता कि फलाँ अभग तुकाराम का है या नही। ऐसे ही एक सालोमालो नामक कवि तुकाराम जी के ही समय में हो गए। वे ख़ुद अभग रचते और लोग उन्हे याद करे, इस लिए उन के अतिम चरणो मे 'तुका' की छाप लगा देते। तुकाराम जी के मत से अत्यत विरुद्ध ऐसे कुछ अभग भी सालोमालो बनाते और उन्हे तुकाराम जी के ही नाम से फैलाते। जब तुकाराम जी को उन के भक्तो ने यह बात कही कि सालोमालो खुद अपने को हरिदास कहला कर आप के अभगों का नाश कर रहा है, आप अभग रूप मे बोले "चावल गल गए या नही, यह देखने के लिए घोटना नही पड़ता। एक दाने से भात की परीक्षा होती है। हस की चोच दूध और पानी फौरन दूर कर देती है। यदि किसी ने पहनने का अच्छा कपड़ा फाड़ उस की गुदड़ी बनाई तो बात किस की बिगड़ी ? तुकाराम की समझ में तो दाने और फूस अलग करने में कुछ कष्ट नही।" पर भक्तो को यह बात ठीक न मालूम हुई। उन मे से दो भक्तों ने तुकाराम जी के अभग लिख लेने का निश्चय किया। सब अभगों का लिखना अशक्य-प्राय था। तुकाराम जी के अभग सर्वदा रचे ही जाते थे। यह कहने के बजाय कि वे अभग रचना करते थे यही कथन अधिक सत्य है कि अभग-वाणी उन के मुख से निकलती

थी। पर फिर भी तके गाँव के गगाराम जी कडूसकर ने और चाकण के सताजी तेली ने यथाशक्ति बहुत अभग लिख डाले। ये दोनो तुकोबा के कीर्तन मे उन का साथ करते थे और दोनो को तुकाराम जी की भाषा शैली से खासा परिचय था। इस कारण उन के प्रायः जितने अभग इन्हे मिले, सब इन्हों ने लिख डाले।

देहू के पास ही चिचवड नाम का एक गाँव है जहाँ पर श्रीगणेश जी का एक प्रसिद्ध मदिर है। यहाँ भी देव उपनामक एक बडे गणेश भक्त हो गए थे जिन के वशज तुकाराम जी के समय वहाँ महती करते थे। आप ने सुना कि तुकाराम जी नामदेव के अवतार समझे जाते हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि श्रीविट्ठल नामदेव जी के साथ भोजन करते, खेलते, बोलते थे तुकाराम जी की परीक्षा लेने के लिए एक बार देव जी ने उन्हे चिचवड़ बुलाया। तुकाराम जी देव जी का हेतु मन मे समझ गए। भोजन के समय तुकाराम जी ने देव जी से कहा "आप के से भक्तों के यहाँ आज श्रीविट्ठल भोजन करने के लिए आनेवाले हैं। एक पात्र उन के लिए और एक पात्र श्रीगणेश जी के लिए परोसिए। मै श्रीविट्ठल को बुला लाऊँगा और आप श्रीगणेश जी को बुलाइए। अपने मन की कुबुद्धि पहचानी देख देव जी लज्जित हुए और बोले "तुकोबा, इतना महद्भाग्य हमारा कहाँ? हम तो अभिमान के मारे मरे जाते है।" यह सुन कर तुकाराम जी ने श्रीविट्ठल की और गणेश जी की स्तुति की। "महाराज आप की कृपा दृष्टि से तो बध्या गाएँ भी दूध देगी। मै ऐसी कठिन बात के लिए आप की विनय नही करता। मेरी तो केवल यही माँग है कि हमें अपने चरणो का दर्शन दीजिए। मेघ चातक के लिए बरसता है। राजहस को आप मोती खिलाते है। फिर तुकाराम की प्रार्थना मान्य करने में आप को इतना सकोच क्यों?" कहा जाता है कि थोडे ही समय में दोनो देवो के लिए परोसी हुई थालियो मे से अन्न कम होने लगा। लोग समझ गए कि श्रीविट्ठल और श्रीगणेश भोजन कर रहे हैं। इस प्रकार के अनेक चमत्कार भक्तो के मुख से सुने जाते हैं। भक्तो की बाते भक्त ही जान सकते है। अतएव अधिक चमत्कारों के विषय मे अधिक कुछ न लिख कर केवल तुकाराम जी के जीवन के अतिम चमत्कार वर्णन कर जीवनी का पूर्वार्द्ध समाप्त करता हूँ।

तुकाराम जी की आत्म-विषयक भावना मे बहुत ही धीरे-धीरे विश्वास उत्पन्न होता गया। अपनी जीवनी का वर्णन करते हुए उन्हो ने बड़ी लीनता से कहा कि 'सुनो भाई सतो, मै तो सब से अधिक पतित हूँ। पर न मालूम आप इतना प्रेम मुझ पर क्यो करते हो। मेरा दिल तो मुझे इसी बात की गवाही देता है कि मैं अभी मुक्त नही हूँ। व्यर्थ में एक के पीछे दूसरा मुझे मानता जाता है। संसार मे पीडा हुई, इस लिए घर छोड़ दिया, ढोरो को भगा दिया। जब कुछ पूरा न पडा, तब वैसा का वैसा ही रह गया। जो कुछ थोड़ा-बहुत धन था, वह पूर्णतया नष्ट हो गया। न कभी किसी ब्राह्मण को दिया न किसी याचक को इस प्रकार सहज में ही भाग्यहीन हो जाने के कारण स्त्री, पुत्र, भाई इन का नाता टूट गया। लोगों को मुख दिखलाते न बना ; अतएव कोनो मे और जगलो में रहने लगा और एकात-वास का प्रेम इस तरह बढ गया। पेट-पूजने मे बडा तग हुआ। किसी को मेरी दया न आई। इस कारण यदि कोई अब मेरा सत्कार करता है, तो मैं बड़े चाव से उस के यहाँ

जाता हूँ। पुरखों ने कुछ श्रीविठ्ठल की सेवा की थी जिस के पुण्य से मैं भी इसे पूजता हूँ। इसी को यदि आप चाहो, तो भक्ति कह सकते हो।" कितनी नम्रता और स्पष्टता है ! ये दोनों गुण वैसे के वैसे ही बने रहे। पर अन्त में तुकाराम जी के मुख से ऐसे वाक्य निकलने लगे कि "कोई मेरी तलाश ही न करने पाए, इस लिए मैं ने आप के चरण गहे है। हे नारायण, अब तो ऐसा कीजिए कि मेरा दर्शन ही किसी को न हो। मेरा मन सब बातों से लौट अब जगह की जगह पर ही विलीन हो गया है। तुकाराम खुद को भूल कर बोलना-चालना भूल गया है। अब तो वह पूरा गूँगा बन गया है।" या "अब तो मैं अपने मइहर जाऊँगा। इन संतों के हाथ मुझे सँदेशा भी आ चुका। मेरी सुख-दुःख की बातें सुन अब तो मेरी मा के मन में करुणा की लाट आ गई। सब तैयारी कर अब तो वह मुझे एक दिन जरूर बुलाने भेजेगी। मेरा चित्त अब उसी मार्ग में लगा है। रोज मायके की राह देख रहा हूँ। तुकाराम के लिए तो अब स्वयं मा-बाप उसे लिवा जाने आवेंगे।"

इस प्रकार के विचारों की बाट होते-होते तुकाराम जी के वय का इकतालीसवाँ साल पूरा हुआ और आप ने बयालीसवें साल में पदार्पण किया। इसी वर्ष की फागुन सुदी एकादशी के दिन महाराज ने नित्य नियमानुसार रात भर भजन-कीर्तन कर प्रातःकाल के समय अपनी स्त्री को बुला कर उसे ग्यारह अभंगों के द्वारा उपदेश किया। आप ने कहा—"सुनो जी, पांडुरंग हमारा चौधरी है। उसी ने हमें खेत जोतने के लिए दिया है। जिस में से फ़सल निकाल हम अपना पेट पालते हैं। उस की बाक़ी जो मुझे देनी है, वह माँग रहा है। आज तक उस की सत्तर की बाक़ी में से मैं दस दे चुका हूँ। पर अब तो वह घर में आ कर खटिया पर बैठ ही गया है और एक-सा तकाजा लगा रहा है। अब तो घर, बाड़ी, बर्तन जो कुछ है, उसे दे कर उस की लगान पूरी करनी चाहिए। बतलाओ, अब क्या करना चाहिए। बिना बाक़ी दिए अब तो छुटकारा नहीं।" इस प्रकार आरंभ में रूपक की भाषा में उसे समझाना शुरू किया। पर जब यह देखा कि उस की समझ में नहीं आता तो आप ने अधिक स्पष्ट रूप में कहा कि "इस बात की चिंता न करो कि इन बच्चों का क्या होगा। उन का नसीब उन के साथ बँधा है। तुम अपनी फँसी हुई गर्दन छुड़वा लो और गर्भवास के दुःख से खुद को बचाओ। अपने पास का माल देख कर चोर गला फाँसेंगे। इसी लिए मैं दूर भाग रहा हूँ। उन के मार की कल्पना ही से मेरा दिल काँप उठता है। अगर तुकाराम की जरूरत तुम्हें हो तो अपना मन खूब बड़ा करो।" "अगर तुम मेरे साथ आओगी तो सुनो क्या-क्या सुख तुम हम दोनों को मिलें गे। ऋषिदेव बड़ा उत्सव मनावेंगे। रत्नों से जड़े विमानों में हमें बिठलावें गे, नामघोष के साथ गंधर्वों का गाना सुनावें गे। बड़े-बड़े सिद्ध, साधु, महंत हमारा स्वागत करेंगे। वहाँ सुखों की सब इच्छाएँ पूरी होंगी। चलो, जहाँ मेरे माता पिता हैं, वहाँ तक जावें और उन्हें मिल उन के चरणों पर पड़ें। तुकाराम के उस सुख का वर्णन कौन कर सके गा, जब उस के माँ-बाप उस से मिलेंगे ?" तुकाराम जी ने तो उपदेश किया पर जिजाई के मन पर उस का कुछ भी असर न पड़ा। मानो अंधे को दर्पण दिखलाया या बहिरे को गाना सुनाया।

श्रीतुकाराम जी उन दिनों अपनी यह कल्पना बराबर कहते रहे। "मैं ने अपनी

मौत अपने आँखो से देखी", "अपना घड़ा अपने ही हाथो से फोड़ डाला", "अपने देहरूप पिड से पिडदान किया" इत्यादि विचार आप के मुख से निकलने लगे। अत मे चैत्र बदी द्वितीया के रोज प्रातःकाल आप ने जिजाई से कहला भेजा कि "मै बैकुठ को जाता हूँ, अगर तुम को चलना हो तो चलो।" परतु उस का जवाब आया कि "आप जाइए। मै पाँच महीने के पेट से हूँ। घर मे बच्चे छोटे-छोटे हैं, गाय, भैंस हैं, उन्हे कौन सम्हालेगा ? मुझे आने की फुरसत नही। आप आनद से जाइएगा।" जवाब सुन कर तुकाराम जी मुसकराए और इसी प्रकार के अभग मुख से कहते, हाथ मे झाँझ, तबूरी ले कर आप ने श्रीविट्ठल को नमस्कार किया और भजन करते-करते घर के बाहर निकले। लोगो को भी आश्चर्य हुआ। वारी को जाने का दिन नही, कीर्तन का मामूली समय नही और श्रीतुकाराम जी महाराज चले कहाँ ? कहाँ जाते है ? ऐसा यदि कोई तुकोबा से पूछता तो जवाब मिलता "हम वैकुठ जाते हैं। अब न लौटेंगे।" भक्तो को आश्चर्य मालूम हुआ और बुरा भी लगा। खास-खास भक्त आप के साथ चलने लगे। उन सबों के साथ श्रीतुकाराम जी महाराज इद्रायणी तीर पर आए और आप ने कीर्तन प्रारभ किया। उस दिन कीर्तन के समय जो अभग आप के मुख से निकले वे बडे अजीब रस से भरे हुए हैं। अपने अभगो मे समय-समय पर तुकाराम जी भिन्न-भिन्न भूमिकाओ पर आप को समझते थे। कहीं विट्ठल को माता मानते, कही पिता, कहीं मित्र, कहीं साहूकार जिस के पास से तुकाराम जी ने कर्जा लिया हो, तो कही कर्जदार जिसे आप ने पैसा दिया हो। आप श्रीविट्ठल से लड़ते, झगडते, प्रेम-कलह करते, भली-बुरी सुनाते, फिर क्षमा माँगते, पैरो पड़ते, रोते, अनेक प्रकार के खेल खेलते। पर इस आखिरी दिन का रग कुछ और ही था। ये अभग विराणी के कहलाते हैं। विराणी याने विहरिणी। इन अभंगो मे तुकाराम जी ने एक विहरिणी की अर्थात् स्वपति छोड़ अन्य पुरुष के साथ जिस पर कि उस का प्रेम हो, विहार करनेवाली स्त्री की भूमिका ली है। ससार है पति और श्रीविट्ठल है प्रियकर पुरुष। इसी कल्पना पर ये अभग रचे हुए हैं। उदाहरणार्थ "पहले पति द्वारा मेरे मनोरथ पूर्ण न हुए। अतएव मैं व्यभिचार करने लगी। मेरे पास मेरा प्यारा रात-दिन चाहिए। एक पल भी बिना उस के मुझे अच्छा नहीं लगता। मै तो अब अनत से रत हो चुकी। तुकाराम के मत से तो दुनिया की बात क्या उस का नाम तक छोड देना चाहिए। अब तो मैं ने अपने सब ससार-पाश तोड़ डाले। अब तो सर्व-काल सब प्रकार के सुखों का ही उपभोग मुझे लेना है। इसी लिए तो पति को छोड़ा और इस पर-पुरुष के साथ रत हुई हूँ। तुकाराम कहते हैं कि अब तो ऐसी दवा की है कि जिस से न हमल रहे न कुछ फल-प्राप्ति हो।"

जब मनुष्य अपना देह भाव भूल जाता है और किसी कल्पना मे तन मन से पड़ता है तो एक प्रकार की उन्मनावस्था उसे आ जाती है। लोगो को न पटेगी—ऐसी बाते वह बोलता है। किसी के नजर नही पडते—ऐसे दृश्य उसे दिखाई देते हैं। वह ऐसे शब्द सुनता है जिन्हे दूसरा कोई सुन नहीं सकता। तुकाराम की भी यही दशा हुई। आप के मुख से ऐसे शब्द निकलने लगे जिन मे केवल आत्म-विश्वास भरा हुआ था। आप कहते थे कि "ब्रह्मज्ञानी, मुक्त, तीर्थ यात्रा करनेवाले, स्वर्गवासी, तपोधन, यज्ञकर्ता, दाता

इत्यादि सब लोगो के मुख से आज यही कहलाऊँगा कि 'धन्य हैं तुकाराम और धन्य हैं हम जिन्हों ने तुकाराम को देखा' ।" आप की आँखो के सामने बैकुठ, वहाँ निवास करने वाले श्री महाविष्णु, उन के पैर दाबनेवाली श्रीलक्ष्मी, गरुड, सनकादिक सत दिखाई देने लगे । उन लोगो की 'चलिए, महाराज बैकुठ चलिए, पधारिए' की पुकार आप को सुनाई देने लगी । आप ने सब भक्त लोगो से कहा "सब से हमारी बार-बार विनीति कहियो । हम बैकुठ जाते है । हम पर कृपादृष्टि रखियो । अब बहुत देर हुई । श्रीपाडुरग राह देखते खडे हैं । बहुत देर हुई । वे हमे बैकुठ बुला रहे हैं । अतकाल के समय श्रीविट्ठल प्रसन्न हुए । तुकाराम सदेह बैकुठ जाते हैं ।" एकदम सब लोगो के देखते-देखते आकाश मे तेज दिखाई देने लगा, फूलो की वर्षा होने लगी, वाद्यो के आवाज तथा जय शब्द की ध्वनि सुनाई देने लगी, विमान गरुड़ की पीठ पर नजर आया, श्रीतुकाराम महाराज श्रीविट्ठल के पास गए, महाविष्णु ने उन्हे गले लगाया और देखते-देखते तुकाराम जी का देह विष्णुस्वरूप हो गया । क्षण भर मे यह दृश्य अदृश्य हुआ । भक्त लोग नीचे जमीन पर देखने लगे तो श्रीतुकाराम महाराज का पता नहीं ।

हो गया । सब खेल खतम हो गया । जिस सूत्रधार ने तुकारामजी को विशिष्ट वेश दिया, जिस ने उन के हाथो भले-बुरे अनेक काम करवाए, लोगो से आनद की तालियाँ या निदा की गालियाँ दिलवाई, उसी जगच्चालक, विश्वनाट्य दर्शक सूत्रधार ने उन की भूमिका पर परदा डाल दिया । तुकाराम जी अदृश्य हो गए । तुकाराम जी का देह श्रीविट्ठल-स्वरूप हुआ परतु उन के अभग गीत आज तक महाराष्ट्र भाषा में गूँज रहे हैं और वह भाषा समझनेवाले लोगो के हृदयो को निनादित कर रहे हैं । केवल इतना ही नही । जितनी भाषाओं में आप के अभगो का अनुवाद हो चुका है और होगा, उन सब भाषाओं के बोलनेवालो के या समझनेवालो के भी हृदय मे हर्ष की हिलोरें इन अभंगों से पैदा हुई हैं और होती रहेंगी । तुकाराम की जीवनी समाप्त हो चुकी । अब उन की अभग-वाणी बाकी है । उसी का विचार उत्तरार्ध मे किया जावेगा ।

अष्टम परिच्छेद

अभंगों का बहिरंग

तुकाराम तुक राम के दोनो सेतु अभग।
उन का सेतु भग गया इन का सेतु अभग॥

श्रीतुकाराम जी की काव्य-वाणी पर विचार करने के पहले उस छद पर विचार करना अयोग्य न होगा जिस मे आप ने अपनी काव्यरचना की है। इन की सब कविता प्रायः अभंग छद में है। सस्कृत छदःशास्त्र से इस अभग की कल्पना नहीं ली गई है। उस शास्त्र मे अक्षर-वृत्त लघु-गुरु के नियमो मे और मात्रा-वृत्त मात्रा की संख्याओ से बँधे होते हैं। पर इस अभग-वृत्त मे न लघु-गुरु का बधन है न मात्रा-सख्या का। जब महाराष्ट्रीय सतो ने कविता-रचना आरभ किया सस्कृत पडित उन की रचना मे छंदोभग, यतिभग, मात्राभग इत्यादि अनेक प्रकार के भग अर्थात् गलतियाँ निकालने लगे। पडितो की इस जबरदस्ती से जेर आ कर स्वाधीनवृत्ति महाराष्ट्र कविवीरो ने एक नए ही छद का आविष्कार किया जिस के विषय मे सस्कृत छदःशास्त्री पडितो के पास कोई नियम ही न था। इस नए छद में किसी प्रकार के भग का भय ही न था। कवि की आत्मा को जो शब्द सूझते थे उन्हे वह रखता चला जाता था। जान पड़ता है कि इसी से इस नए छद को अभग कहने लगे। जहाँ किसी प्रकार के भग का डर नहीं वह अभग। इसे पद्य कहने का कारण केवल यही है कि यह गद्य नही। यह गेय है अर्थात् इसे गा सकते हैं। अतएव केवल ताल के अनुसार ही इस की रचना होती है। अत्यत प्राचीन

मस्कृत वैदिक मत्रों के छद मे जैसे मुख्यतः केवल अक्षर-सख्या का बधन है, वैसे ही इस अभग-वृत्त में एक चौक अर्थात् चार चरणों के समूह के अक्षर सख्या से नियमित रहते हैं। पर इस का यह अर्थ नहीं कि यह नियम भी सदा पाला ही जाता है। वैदिक ऋचाएं गाने के समय जैसे सामवेद मे 'हौ हौ' मिला कर ताल-मात्राएँ पूरी की जाती हैं वैसे ही अभग गाते समय 'देवा', 'रामा' इत्यादि शब्द मिला कर ताल-पूर्ति की जाती है। ताल की सुविधा के अनुसार अक्षर सख्या मे बढ जावे तो एक दूसरे मे मिला कर सयुक्ताक्षर के-से भी पढ़े जा सकते हैं। अक्षर-सख्या के नियम की अपेक्षा भी इस रचना को काव्य या गेय कहने का एक और विशेष कारण है। वह है तुकबदी। कही न कहीं इस रचना मे तुक अवश्य रहता है। पर तुक मिलाने की रीति भी निराली ही है। कहीं-कहीं यह तुकबदी दूसरे और चौथे चरण के अत मे होती है, तो कही पर दूसरे के और तीसरे के अत में। कुछ अभगों मे पहले तीन चरणों मे तुक रहता है, पर चौथा चरण बेतुका ही होता है। चार चरणों का एक चौक होता है। एक अभग मे प्रायः चार चौक रहते हैं। पर यह नियम नहीं है कि केवल चार ही चौक एक अभग मे हो। तीन से ले कर दो सौ चौक तक के अभग विद्यमान हैं। दूसरा चौक ध्रुवपद कहलाता है अर्थात् हर एक चौक के बाद यह दुहराया जाता है। अभग छद का सामान्य लक्षण यही है।

पर अभग के सामान्य नाम से ज्ञात इस छद के बहुत-से विशेष प्रकार हैं और प्रायः इन सब प्रकारों में श्रीतुकाराम महाराज की रचना है। उन सब प्रकारो के लक्षण, जिन मे कि तुकाराम जी की रचना है, उदाहरणों-सहित नीचे दिए जाते हैं। हिंदी पाठको के लिए मराठी अभग के साथ उसी छद मे उस का अनुवाद भी दिया हुआ है।

(अ) इस प्रकार का चौक सब से छोटा रहता है। इस मे पद्रह अक्षर रहते हैं। पहले तीन चरण चार-चार अक्षर के और चौथा चरण केवल तीन ही अक्षरों का। दूसरे और तीसरे के अत मे तुक रहता है। उदाहरणार्थ—

(मराठी)

कोण येथं, रिता गेला। जो जो आला, या ठाया ॥
तातडी ते, काय आता। ज्याची चिंता, तयासी ॥
नावा साठीं, नेघे भार। न लगे फार, विल्पत्ती ॥
तुका ह्मणे, न लगे जावे। कोठे देवे, सूचने ॥

(हिंदी)

कौन यहाँ, खाली गया। जो जो आया, ठौर पै ॥ १ ॥
अब जल्दी, है काहे की। चिता जाकी, ताही को ॥ध्रु०॥
नाम लेते, भार नहीं। लगती नहीं, पद्धिती ॥ २ ॥
तुका कहे, जाना नहीं। देव कहीं, ढूढ़ने ॥ ३ ॥

यह कहने की आवश्यकना नही कि मराठी अभग के अतिम चौक मे दूसरे चरण के पॉच अक्षर मे 'न लगे' तीन अक्षर अभग कहते समय 'नल्गे' से कहने पड़ते हैं।

(आ) पूर्वोक्त प्रकार मे एक अक्षर अतिम चरण में बढाने से और तुकबदी दूसरे और चौथे चरण के अत मे लाने मे इस नए प्रकार का चौक बनता है। अर्थात् चौक में अक्षर १६ और दूसरे मे चौथा चरण तुक मे मिला हुआ। जिन प्रकार के अभगो मे तुकाराम जी की रचना बहुतायत से है, उन मे से यह एक प्रकार है। यथा—

(मराठी)

होय होय वारकरी। पाहे पाहे रे पढरी ॥
काय करावी साधने। फक अवघेचि तेणे ॥
अभिमान नुरे। कोड अवघेचि पुरे ॥
तुका ह्मणे डोला। बिठो बैसला सॉवला ॥

यहॉ पर तीसरे और चौथे चौक के पूर्वार्ध में आठ के बदले छः ही अक्षर हैं। अर्थात् कहते बार दोनो जगह 'देवा' या 'रामा' मिला कर कहना पड़ता है।

(हिंदी)

बनो बनो वारकरी। देखो देखो जी पढरी ॥ १ ॥
लाभ क्या है साधनो से। फल सारा है इसी से ॥ध्रु०॥
देह अभिमान जावे। मनोरथ पूरा होवे ॥ २ ॥
तुका कहे ऑखो बैठा। विठू वहॉ से ना उठा ॥ ३ ॥

(इ) जिन अभगो के चौक मे अक्षरों की संख्या अठारह से ले कर बारह तक है, वे सब तुकाराम जी के अभग हिंदी भाषा में रचे हुए हैं। इन्हे अभग कहना कहाँ तक उचित है, एक विचार करने योग्य प्रश्न है। पर अभंगो के सग्रहों में सम्मिलत होने के कारण वे मराठी भाषा मे अभग ही कहलाते हैं। तुकाराम की तथा उस समय की महाराष्ट्रीय हिंदी के नमूने की दृष्टि से इन अभगो का विशेष महत्व है। पहले प्रकार के पूर्वार्द्ध में तथा उत्तरार्द्ध मे नौ-नौ अक्षर मिला कर अठारह अक्षर एक चौक के होते हैं। दोनो अर्द्धों के अत में तुक रहता है। यथा—

दासो के पीछे दौरे राम। सोवे खडे आप मुकाम ॥ १ ॥
प्रेम रसड़ी बॉधी गले। खैंच चले उधर चले ॥ध्रु०॥
अपने जनसुं भूल न देवे। कर धर आगे बाट बतावे ॥ २ ॥
तुका प्रभु दीनदयाला। वारि तुझ पे हु गोपाला ॥ ३ ॥

यह कहने की आवश्यकता नही है कि इस की चाल हिंदी की 'भजो मना भजो रे राम। गगा, तुलसी शालिग्राम' की चाल पर है। तीसरे चौक को 'अप्ने जन्सु भूल न देवे। कर्धरागे बाट बतावे' कहना पड़ता है।

(ई) इस के बाद प्रत्येक चरण मे पॉच, एव प्रत्येक अर्द्ध मे दस तथा चौक मे बीस अक्षरो का छंद आता है। इस की भी रचना हिंदी भाषा मे है। तुक दोनो अर्द्धों के अत मे रहता है। उदाहरणार्थ—

क्या गाऊँ कोई सुननेवाला।
देखूँ तो सब जग ही भूला ॥ १ ॥
खेलू अपने रामहि सात।
जैसी हो वैसी करिहौं मात ॥ध्रु०॥
कहाँ से लाऊँ मधुरा बानी।
रीझे ऐसी लोक बिरानी ॥ २ ॥
गिरिधरलाल भाव का भुका
राग कला ना जानत तुका ॥ ३ ॥

सात का अर्थ है साथ, मात का बात, और बिरानी शब्द मराठी विराणी अर्थात् विहरिणी, खिलानेवाली, मनमोहिनी के अर्थ में प्रयुक्त है। गिरिधरलाल को 'गिरिधर् लाल' कहना सहज ही है।

(उ) श्रीतुकाराम महाराज ने हिंदी भाषा मे जिस की रचना की, ऐसा तीसरा छद वह है जिस के प्रति चौक मे बाईस तथा प्रत्येक अर्ध मे ग्यारह अक्षर हो। तुकबदी पूर्वोक्त प्रकार की-सी प्रति अर्ध के अत मे हैं। जैसे—

मत्र तत्र नहि मानत साखी।
प्रेम भाव नहि अतर राखी ॥ १ ॥
राम कहे ताके पद हू लागू ।
देख कपट अभिमान दुर भागू ॥ध्रु०॥
अधिक याति कुलहीन न जानूँ ।
जाने नारायण सो प्रानी मानू ॥ २ ॥
कहे तुका जीव तन डारूं डारी।
राम उपासिहु हू बलियारी ॥ ३ ॥

हिंदी पाठकों से यह कहने की आवश्यकता नही कि इस छद की कल्पना गुसाई तुलसीदास जी के चौपाइयों से ली हुई जान पड़ती है। चौपाई की चाल पर ये अभग भली-भाँति गाए जा सकते हैं। अक्षरों की खींचातानी आवश्यक स्थल पर पाठक स्वय कर सकते हैं।

(ऊ) इसी ढग का चौथा एक और प्रकार है। इस के प्रति पाद मे छः अक्षर अतएव चौक मे २४ चौबीस अक्षर होते हैं। तुकबंदी दूसरे और चौथे चरण के अत में की जाती है। यथा—

क्या मेरे राम कवन सुख सारा।
कह कर दे पूछू दास तुम्हारा ॥१॥

तन जोबन की है कौन बराई ।
व्याधि पीड़ादि ने सकलहि खाई ॥ध्रु०॥
कीरत बधाऊ तो नाम न मेरा ।
काहे को झूठा पछताऊ हू बेरा ॥२॥
कहे तुका नहि समजत बात ।
तुम्हारे शरन हे जोडन हात ॥३॥

कबीरदास जी के 'इस तन धन की कौन बडाई' की चाल पर ही यह अभग कहा जाता है। अर्थात् यह कहने मे हानि नही है कि कबीरदास जी के इसी पद के नमूने पर तुकारामजी की यह रचना है। यहाँ पर इस बात को भी ध्यान मे रखना चाहिए कि तुकाराम जी की हिंदी रचना मे राम, कन्हैया, हरि इत्यादि शब्दो का प्रयोग ईश्वर के अर्थ मे पाया जाता है, अल्ला का भी नाम मिलता है, पर श्रीविठ्ठल का नाम नहीं मिलता।

(ऋ) अब फिर मराठी रचना की ओर देखे। नामदेव जी ने जिस प्रकार के अभंग को विसोबा खेचर के पास सीखा, उस प्रकार मे तुकाराम जी की भी बहुत रचना है। यह अभग साढ़े तीन चरणो का कहलाता है। प्रत्येक चरण मे छः अक्षर, ऐसे तीन चरण और चौथा चरण चार अक्षरो का। एव कुल मिला कर बाईस अक्षरो का एक-एक चौक होता है। दूसरे और तीसरे चरण के अत मे तुक मिलाया जाता है। उदाहरणार्थ—

(मराठी)

माझे मज कळो, ये ती अवगुण ।
काय करू मन, अनावर ॥
आता आड उभा, राहे नारायणा ।
दयासिंधुपणा, साच करी ॥
वाचा वदे परी, करणे कठीण ।
इद्रिया आधीन, झालो देवा ॥
तुका ह्मणे तुझा, जैसा तैसा दास ।
न धरीं उदास, माय बापा ॥

(हिंदी)

मेरे औगुनो को, और कौन जाने ।
चित्त नहीं माने, क्या करू मैं ॥ १ ॥
अब आड राखो, नारायण मोको ।
कृपासिधु नीको, नाम राखो ॥ध्रु०॥
जिह्वा बोल जाती, हाथो नही होता ।
इद्रिया ये गोता, दे जाती हैं ॥ २ ॥

तुका जैसा तैसा, दास है तुम्हारा ।
क्यों उसे है डारा, दीनता मे ।। ३ ।।

(ऋ) इस प्रकार के एक चौक मे अट्ठाईस अक्षर होते हैं । विषम अर्थात् पहले और तीसरे चरणों मे आठ-आठ अक्षर और सम अर्थात् दूसरे और चौथे चरणों मे छः-छः अक्षर होते हैं । दूसरे और चौथे चरण में तुक रहता है । यथा—

(मराठी)

याती हीन मती हीन, कर्म हीन माझे ।
सर्व लज्जा साडोनिया, शरण आलों तुज ।।
ये ईं गा तू माय बापा, पढरीच्या राया ।
तुज विण शीण वाटे, क्षीण झाली काया ।।
दीननाथ दीनबधु, नाम तुज साजे ।
पतितपावन ऐसी, ब्रीदावली गाजे ।।
विटेवरी नीट उभा, कटावरी कर ।
तुका ह्मणे हे चि आह्मा, ध्यान निरतर ।।

(हिंदी)

जात हीन बुद्धि हीन, कर्म हीन मेरा ।
सारी लाज छोड़ बना, हू मैं दास तेरा ।। १ ।।
आओ मेरे माता-पिता, पढरी के राया ।
तेरे विना थक गया, निर्बल हो काया ।।ध्रु०।।
दीननाथ दीनबधु, तुझे सोहे नाम ।
पतितो को उबारना, तेरा ही है काम ।। २ ।।
भले खडे ईंट पै हो, कटी राख हाथ ।
तुका कहे यही ध्यान, रहे मेरे साथ ।। ३ ।।

इसी छद मे तुकाराम जी की बहुत थोड़ी हिंदी रचना भी है । परतु हिंदी में ध्रुवपद निराले चाल का है । जैसे—

तन भजाय ते बुरा, जिकीर ते करे ।
सीर काटे ऊर कुटे, ताहा सब डरे ।। १ ।।
ताहा एक तुही रे, एक तुही रे । बाबा हम तुम नही ।।ध्रु०।।
दिलदार देखो भुलो नहीं, क्या पछाने कोय ।
सच्चा ना पकड सको, झूटा झूटे रोय ।। २ ।।
किसे कहे मेरा कीन्हे, सात लिया भास ।
नहीं मेल मिले जीवन, झूटा किया नास ।। ३ ।।

सुनो भाई कैसा तोही, होय तैसा हो ही।
बाट खाना अल्ला कहना, एक बार तो ही ॥ ४ ॥
भला लिया भेख मुंडे, अपना नफा देख।
कहे तुका सोही सखा, हक अल्ला एक ॥ ५ ॥

उन दिनो एक तरह के मुसलमान फकीर महाराष्ट्र मे घूमते थे। इन का सिर मुंडा रहने के कारण इन्हे मुंडे फकीर कहते थे। ये भीख माँगते वक्त बडी जिद करते थे। (मराठी मे जिद को जिकीर कहते हैं)। अपना तन भजाते अर्थात् शरीर पर घाव करते, सिर फोडते, छाती कूटते और इस प्रकार लोगो को डरा कर भीख माँगते। ऐसे लोगो को नजर मे रख कर, ऊपर की रचना की गई है।

(लृ) इस प्रकार के एक चौक मे बत्तीस अक्षर रहते हैं। आठ-आठ अक्षरों का एक-एक चरण होता है और पहले तीनो चरणों के अंत मे तुक मिला रहता है। जैसे—

(मराठी)

मन करा रे प्रसन्न। सर्वसिद्धी चे कारण।
मोक्ष अथवा बंधन। सुख समाधान इच्छा ते ॥
मने प्रतिमा स्थापिली। मने मना पूजा केली।
मने इच्छा पुरविली। मन माउली सकलाची ॥
मन गुरु आणि शिष्य। करी आपुलेंचि दास्य।
प्रसन्न आप आपणास। गति अथवा अधोगति ॥
साधक वाचक पंडित। श्रोते वक्ते ऐका मात।
नाहीं नाहीं आन दैवत। तुका म्हणे मना ऐसे ॥

तुकाराम से महाराष्ट्रीय संत कविता-नियमो के विषय मे बडे लापरवाह होते थे। ऊपर दिए अभंग में नियमों के अनुसार केवल चौथा चौक है। पहले तीनों चौक में चौथा चरण नौ-नौ अक्षरो का है पर कहते समय नौ के आठ ही कहना पड़ता है।

(हिंदी)

मन राखो सुप्रसन्न। सिद्धियो का जो कारण।
चाहो मुक्ति या बंधन। सुसमाधान इसी से ॥ १ ॥
मन देव का निर्माता। फलफूल को चढ़ाता।
मन कामना पूर्ण कर्ता। मन ही माता सबों की ॥ध्रु०॥
मन गुरु मन चेला। सेवा कर्ता है वो भला।
ले जाता है वही चोला। सुगति या दुर्गति को ॥ २ ॥
सिद्ध साधक पंडित। श्रोता वक्ता सुनो बात।
अन्य नहीं है दैवत। तुका कहे मन का सा ॥ ३ ॥

इस प्रकार मे केवल तुकबंदी बदल कर (आ) प्रकार के दो चौको का एक चौक किया जाता है।

(ए) गोस्वामी तुलसीदास जी के तथा कबीरदास जी के दोहरे सुन-सुन तुकाराम जी ने भी कुछ थोड़े दोहरे बनाए हैं। हिंदी पाठकों से कहने की आवश्यकता नहीं कि दोहा मात्रा-वृत्त है। पर जहाँ अभंग ऐसे सीधे-साधे वृत्त में भी खेंचातान करने की पद-पद पर आवश्यकता पड़ती है वहाँ बेचारे दोहे को कथा ही क्या ? दोहे की चाल पर कहने के लिए इन में जो कसरत जीभ को करनी पड़ती है उस की कल्पना कराने के लिए नीचे दिए दोहे काफी हैं। इन दोनों में 'रे' शब्द की भरमार है।

राम राम कह रे मन, और सु नहि काज।
बहुत उतारे पार आये, राख तुका की लाज॥
तुकाराम बहुत मीठा रे, भर राखू शरीर।
तन की करू नाव रे, उतरू पैल तीर॥
तुका प्रीत रामसू, तैसी मीठी राख।
पतंग जाय दीप पर रे, करे तन की खाक॥

महाराष्ट्रीय संत कवि वृत्त-नियमों की ओर कभी ध्यान न देते थे। तुकाराम के ही समकालीन श्रीसमर्थ रामदास स्वामी की बात सुप्रसिद्ध है। आप ने 'मन के श्लोक' नामक मन को उपदेश करनेवाले श्लोक 'भुजंगप्रयात' वृत्त में रचे। जब किसी पंडित ने इन श्लोकों में के नियम भंग स्वामी जी को दिखलाए तब आप ने कहा कि "मैंने कहाँ इन वृत्त लक्षणों को सीखा है। न मैं इन लक्षणों को जानता हूँ, न मैं उस वृत्त में रचना करता हूँ। अगर ग्रंथोक्त नियम मेरे श्लोकों में न पाए जावे, तो मेरे श्लोकों के अलग नियम बनाओ। कविताओं पर से लक्षण बाँधे जाते हैं न कि लक्षण के अनुसार कविताएँ।" तुकाराम जी के विषय में भी यही कह सकते हैं। अभंग को तो किसी भंग का डर ही नहीं। दोहों में यदि दोहे का लक्षण न पाया जाय तो उसे अन्य नाम से कह सकते हैं। भवभूति के वचनानुसार "लौकिक कवियों के छंद लक्षणों के अनुसार होते हैं, पर श्रेष्ठ संतों की कविता अपने अनुसार नए लक्षण निर्माण करती है।"

जिन मराठी प्रकारों का ऊपर वर्णन किया जा चुका है, उन्हीं अभंग-प्रकारों में तुकाराम जी के प्रसिद्ध मराठी अभंग लिखे हुए हैं। पर इन प्रकारों के अतिरिक्त भी इने-गिने कुछ अभंग, जिन में श्रीकृष्ण की पौराणिक लीलाओं का वर्णन है, भिन्न प्रकारों से लिखे हुए हैं। इन प्रकारों में नौ से ले कर सोलह अक्षरों तक का एक-एक चरण होता है। अर्थात प्रति चौक में छत्तीस से चौसठ तक अक्षर रहते हैं। कभी केवल पहले तीन चरणों में तुक मिला रहता है, तो कभी चारों चरणों में। इन सब प्रकारों के उदाहरण देने की कुछ आवश्यकता नहीं जान पड़ती। पिछले उदाहरणों से इन की कल्पना भली भाँति की जा सकती है। आप के रचे हुए सब से बड़े अभंग में अट्ठासी अक्षरों का एक चौक पाया जाता है। कभी-कभी ध्रुवपद आधे चौक का अर्थात् दो ही चरणों का होता है। पर इन सब प्रकारों में पूर्वोक्त प्रकारों का ही संयोग पाया जाता है। ये छंद गाने में भी इतने कर्ण-मधुर नहीं हैं। इन सारे अभंगों की रचना तुकाराम जी ने प्रारंभ-

प्रारंभ में ही की है। इसी समय रामदास स्वामी जी के 'मन के श्लोक' ऐसे कुछ भुजंगप्रयात श्लोक भी तुकाराम जी ने रचे। पर इन में भी खेंचातानी का वही हाल है। जैसे-जैसे तुकाराम जी की कविता-शक्ति या कविता-भक्ति बढ़ती गई, वैसे-वैसे ये सब ढंग छूट गए और केवल पूर्वोक्त पाँच-चार प्रकारों में ही आप ने अपनी अभंग-रचना की।

आरंभकाल में भाषाभेद या छंदभेद के अतिरिक्त और भी कुछ विशेष भेद तुकाराम जी के अभंगों में पाए जाते हैं। इन बातों का वर्णन कर यह बहिरंग-परीक्षा समाप्त करेंगे। हर एक कवि तुकबंदी के तथा अक्षरबंधों के कुछ खेल अवश्य ही खेलता है। संस्कृत महाकाव्य लिखनेवाले कवियों में तो यह शौक पाया ही जाता है, पर तुकाराम रामदास ऐसे संत-कवि भी इस खेल के मोह से सर्वथा अलिप्त न रहने पाए। तुकबंदी के विषय में तुकाराम जी का एक ढंग वह है जिसे संस्कृत परिभाषा के अनुसार 'दामयमक' कह सकते हैं। इस प्रकार में एक चौक के अंत में जो अक्षर होते हैं, उन्हीं अक्षरों से दूसरे चौक का आरंभ किया जाता है। यथा—

(मराठी)

चित्त ज्याचे पुत्र, पत्नी बंधू वरी।
सुटेल हा परी, कैसा जाण ॥
जाणते नेणते, करा हरिकथा।
तराल सर्वथा, भाक माझी ॥
माझी मज असे, घडली प्रचीत।
नसेल पतित, ऐसा कोणी ॥

(हिंदी)

चित्त यदि जड़ा, पुत्रादिकों पर।
छूटे तो संसार, कैसा जानो ॥१॥
जानो या न जानो, करो हरि कथा।
तरोगे सर्वथा, वाक्य मेरा ॥२॥
मेरा मुझे हुआ, पूरा है विश्वास।
पापी ऐसा दास, न था कोई ॥३॥

इस दामयमक में शब्द का शब्द दुहराया जाता है। पर तुकाराम जी कभी कभी शब्द के बजाय केवल एक अक्षर ही दुहराते हैं। जैसे कि नीचे दिए उदाहरण में—

(मराठी)

पांडुरंगा करूं प्रथम नमना।
दुसरें चरणा संतांचिया ॥
याच्या कृपादानें कथेचा विस्तारू।
बाबाजी सद्गुरू दास तुका ॥
काय माझी वाणी मानेल संतांसी।
रंजवूं चित्तासी आपुलिया ॥

(हिंदी)

पांडुरंग बंदौं, पहले सबों के।
चरण संतो के, नमौं बाद ॥ १ ॥
दया से उन्ही के, कथा मैं गाऊंगा।
बाबा जी गुरू का, तुका चेला ॥ २ ॥
लाभ होगा कैसा, संतो को इस से।
निज के मन से, गाऊंगा मैं ॥ ३ ॥

यहां पर पूरा का पूरा शब्द दुहराने के बजाय केवल अंतिम अक्षर ही दूसरे चौक के आरंभ में दुहराया है। आरंभ-आरंभ के कई अभंग तुकाराम जी ने इसी प्रकार से रचे हैं। कहीं शब्द, या कहीं अक्षर, पर द्विरुक्ति अवश्य की है। इस का एक कारण यह जान पड़ता है कि इस द्विरुक्ति के कारण एक के बाद दूसरा चौक कंठस्थ करने मे सुभीता होता है।

इस खेल के अतिरिक्त और भी एक खेल तुकाराम जी के एक अभंग में पाया जाता है इस का नाम है 'एकाखड़ी'। यह शब्द 'एकाक्षरी' का अपभ्रष्ट रूप है, जैसा कि 'द्वादशाक्षरी' का 'बाराखड़ी'। इस अभंग के प्रत्येक चौक का आरंभ वर्णमाला के ककार से ले कर हकार तक के अक्षरो से है, जैसे नीचे के पॉच चौक पवर्गाक्षरों से आरब्ध हैं—

(मराठी)

पर उपकारा। वेचा शक्ति निंदा वारा ॥
फल भोग इच्छा। देव आहे जैसा तैसा ॥
बरवा ऐसा छंद। वाचे गोविंद गोविंद ॥
भविष्याचे माथा। भजन न धावे सर्वथा ॥
मार्ग लागला न सडी। आकसे माती घाली तोंडी ॥

(हिंदी)

पर उपकार करो। निज शक्ति निंदा टारो ॥
फल भोगो की कामना। देव देता जैसे बना ॥
बहु अच्छा यही छंद। कहो गोविंद गोविंद ॥
'भविष्य काल में करो। भजन' ऐसा ना उचारो ॥
मार्ग पाया जो न छोडो। आलस्य को पार तोडो ॥

ये सब बाते आरंभ ही मे मिलती हैं। अभ्यास, ईश्वर-भक्ति, उदासीनता, ऋषियों के वचनों के पाठ, एकाग्रता, ऐकात्म्य, इत्यादि बातो के कारण जैसे-जैसे आप का अधिकार बढ़ता गया, वैसे-वैसे ये सब खेल छूटते गए और आप का लक्ष्य बहिरंग की अपेक्षा अंतरंग की ओर अधिक आकृष्ट हुआ। प्यारे पाठको, आइए, हम भी अब इस नीरस बहिरंग परीक्षा को छोड़ श्रीतुकाराम जी के अभंगो का अंतरंग देखें।

नवम परिच्छेद

देव-भक्त संवाद

गत परिच्छेद मे श्रीतुकाराम जी महाराज के अभगों का जो बाह्य स्वरूप दिखाया गया है उस से पाठकों के मन पर विशेष अनुकूल परिणाम न हुआ होगा। इस का कारण स्पष्ट है। तुकाराम जी की कविता कन्यका रूप से मोहक नहीं। जैसा तुकाराम जी का बाह्य स्वरूप था वैसा ही उन की कन्यका का है। स्वय अपने रूप के विषय में महाराज ने श्रीशिवाजी को उत्तर लिखते समय कहा है कि "वस्त्रों बिना शरीर मलिन है। पेट भर अन्न खाने को न मिलने और जो कुछ फल-मूल मिले उन्ही पर निर्वाह करने के कारण हाथ-पैर पतले और सूखे हो गए हैं। ऐसी स्थिति में मेरे दर्शन से आप को क्या आनद मिलेगा?" तुकाराम जी के एक शिष्य कचेश्वर भट ब्रह्मे नाम के थे। आप ने तुकाराम जी के स्वरूप का वर्णन किया है, जिस में आप कहते हैं कि "श्रीतुकाराम जी वर्ण से साँवले थे। क़द में न बहुत ऊँचे न बहुत छोटे। पेट जरा बड़ा और गोल, आँखे तेजीली, नाक सीधी, दाँत छोटे-छोटे और ओठ लाल थे। कीर्तन के समय आप ऐसे नाचते और हिलते, मानों हवा की जोर से केले का पेड़ हिल रहा हो"। तुकाराम जी की कविता ठीक इसी प्रकार की है। किसी एक विषय पर सुसंबद्ध न होने के कारण यह कविता फुटकर टुकड़ो टुकड़ों में बँटी जान पड़ती है। छंद में भी यह मोहक नही। जिस मे नियमों का बधन नही ऐसे अभग छद म यह रचना है। पिता जी के पास अलकारो का अभाव होने के कारण यह बिल्कुल निरलकार है। अगर इस के बचपन में इस पर एकाध शब्दालकार चढाया भी गया तो वह

इतना सादा कि उस से सौंदर्य बढ़ने की अपेक्षा कम होने की ही अधिक संभावना रही। फिर अगर उस का रूप मनोमोहक न हो तो अचरज ही क्या ? लीचियो का स्वरूप भी बाहर से सुदर नही होता। पर क्या केवल इसी लिए उन्हे रसिक लोग फेक देते हैं ? तुकाराम जी की कविता को लीचियो की ही उपमा देना अधिक अन्वर्थक है। यद्यपि इन का रूप मोहक नहीं, तथापि न नारियल की तरह इन्हे फोड़ने मे कष्ट होता है, न कटहल का-सा इन का छिलका मोटा होता है। जी चाहा तब एक फल उठाया और मजे से चखने लगे। ठीक यही हाल तुकाराम जी की कविता का है। जब चाहो तब एक अभग उठा लो। शब्दो का अर्थ पढते ही ध्यान मे आता है और रस-भरा मधुर अर्थ समझकर जीव सतुष्ट होता है।

श्रीतुकाराम जी महाराज के अभंगो की विशिष्टताओं मे से एक यह है कि इन अभगो को पढ़ते ही आप की मूर्ति आँखों के सामने नजर पड़ने लगती है। हर एक अभग में ही नही, हर एक शब्द में तुकाराम जी की भक्ति पाठको को दीखती है। ऐसा जान पड़ता है कि महाराज पाठको से स्वय बोल रहे हैं। कवि प्रायः अपने पात्रों द्वारा या अपनी कविता के प्रतिपाद्य सिद्धातो द्वारा पाठको के मन से मिल जाते हैं। पर तुकाराम जी का निराला ही ढग है। यह भक्तराज पाठको से स्वय ही बोलते हैं और आप को जो कुछ कहना होता है, साफ़-साफ़ कोई परदा आड़ न रख कर कहते हैं। सस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार व्यंग्यार्थ को प्राधान्य है। कविता-सुदरी के विषय में यह ठीक भी है। तरुणी स्त्री को अपने अवयवों को ढाँकना पड़ता ही है, प्रत्युत उसे अपने भाव भी छिपाने पड़ते हैं। अपने मन के भाव उसे स्पष्ट रूप से शब्दो मे व्यक्त करना उचित भी नही। उस के लिए तो यही ठीक है कि वह अपने मन के भाव इगितो द्वारा प्रकट कर दर्शको के चित्त को आकर्षित कर ले। पर छोटे बच्चे के विषय में यह बात अयुक्त है। उन्हे न अपने अगो को ढाँकना चाहिए, न अपने भावो को। बच्चे की मोहकता उस के खुले अगो में ही अधिक है। ऐसे ही उस के मन की निर्मलता अपने भाव को शब्दो मे कह देने मे ही है। उस ने इन बातो से विचार करने की कुछ आवश्यकता नही कि उस के वाक्य ठीक शब्दों मे रचे गए हैं या नही। भले बुरे, शुद्ध-अशुद्ध, स्पष्ट अस्पष्ट, यहाँ तक कि तोतले शब्दो मे भी उस की बाते बड़ी रोचक लगती हैं, सुननेवाले के हृदय को सतोष देते हैं और बिना विलब किए बालक की इच्छा पूरी करने में लोगो को प्रवृत्त करते हैं। उपनिषत्कार ने इसी लिए कहा है कि 'पडिताई से खिन्न हो, बच्चे के भाव से ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिए।' तुकाराम जी की कविता ठीक इसी प्रकार की है और इसी कारण उस का प्रभाव पाठको पर अधिक पडता है।

तुकाराम जी की कविता का दूसरा विशेष गुण है आप की प्रासादिक सादी मनोहारिणी वाणी। ऐसे सुलभ और सादे शब्दो मे परिणामकारक उपदेश करना, प्रसगवश पाठकों के मन मे भिन्न-भिन्न विकारों का तूफान उठाना तथा निद्य बातों की अवहेलना और निंदा करके उन बातों के विषय मे पाठको के हृदय मे घृणा उत्पन्न करना तुकाराम जी के हाथ का खेल था। आप के दृष्टात या उदाहरण बड़े हृदयस्पर्शी

होते हैं। बहुत लेखकों के प्रचड शब्दसमूह में जरा-सा अर्थ भरा रहता है, मानो टोकरी भर भूसे मे एक अनाज का दाना। पर तुकाराम जी की लेखन-शैली इस के बिल्कुल उलटी है। तुकाराम जी की वाणी की श्रेष्ठता इसी मे है कि बहुत इतने थोडे शब्दो मे आप बडे-बड़े गहन सत्य गढते हैं। साथ ही आप अपनी कल्पनाओं को मोहक स्वरूप देते हैं। इन्ही कारणो से आप की कविता-वाणी छोटो से ले कर बडो तक और श्रेष्ठों से ले कर कनिष्ठो तक सब प्रकार के लोगो के मुख मे निवास करती है। आप की रचना किसी एक विषय पर निबद्ध नही है पर भामह के कथनानुसार 'अनिबद्ध' है। मन में जिस समय जो लहर उठी उसी के अनुसार मुख से शब्द निकले। यह कविता हृदय से निकलती है और हृदय से ही जा मिलती है। इस के शब्द और अर्थ सोना और रत्न के से हैं। सोने मे जड़े जाने के कारण रत्न अधिक सुहावना मालूम होता है। साथ ही सोने की भी शोभा बढ़ती है। उसी प्रकार ये शब्द और अर्थ अन्योन्य को शोभा देते हैं। जैसे चमकीले अर्थ है, वैसे ही सुहावने शब्द। सहज वृत्ति से बाहर निकलने के कारण इन में कृत्रिमता का लेश भी नही है। तुकाराम जी की कविता के विषय मे इतना सामान्य विवरण प्रर्याप्त है। अब विशेष रूप से इस का विचार करना चाहिए।

श्रीतुकाराम जी की साधना का विचार प्रथम ही हो चुका है। जब आप ने ससार छोड़ दिया या यों कहे कि ससार ने आप को छोड़ दिया, तब से आप बराबर श्रीविट्ठल की भक्ति करते रहे। जब आप को कविता रचने के विषय मे आदेश हुआ, तब सब से पहले आप ने श्रीकृष्ण-लीला की कविताएँ लिखी। पर जब से आप को ईश्वर-स्वरूप का साक्षात्कार हो कर आप के अभग इद्रायणी नदी में से सूखे निकले, तब से आप का चित्त परमेश्वर से मिल गया। आप को सदैव ईश्वर पास ही दीखते थे अतएव आप प्रार्थना ऐसी करते मानो आप किसी से बोल ही रहे है। स्तुति करते समय आप के मन में प्रमुखतया यह बात रहती है कि यह काम अशक्य है, असभाव्य है। इस के मुख्यतया दो कारण है। एक अशक्ति और दूसरा अज्ञान। जहाँ पर वेद भी कुछ वर्णन न कर सके और अंत मे 'नेति-नेति' कहते रह गए, ऋषि, मुनि, सिद्ध इत्यादि वर्णन करते-करते थक गए, हजारो मुख से बखानते-बखानते शेष की जिह्वाएँ फट गई, वहाँ तुकाराम की कथा ही क्या? अगर सारी पृथ्वी का कागज, सागर की स्याही, मेरु की लेखनी बनाई जाय तो भी यह सामान अनत-गुण भगवान् की स्तुति लिखने मे पर्याप्त न होगा। अज्ञान के विषय मे भी यही बात। ध्यान कैसा करना चाहिए, दर्शन कैसे लेना चाहिए, कैसी भक्ति करनी चाहिए और कैसी सेवा, तथा कीर्ति कैसे बखानूँ, रूप कैसे पहचानूँ, गीत मैं कैसा गाऊँ, हृदय मे कैसे लाऊँ इत्यादि किसी भी बात मे ज्ञान नहीं। अगर ईश्वर ही कुछ बुद्धि दे तो कुछ हो। अन्यथा विचार करते-करते तो उस की माया ही नही समझ मे आती। कौन पैदा हुआ या किस ने पैदा किया, दाता कौन और याचक कौन, कौन उपभोग लेता है और कौन लिवाता है, किसे रूप कहते हैं और किसे अरूप, कुछ भी ध्यान मे नहीं आता। यहाँ तक कि स्तुति करने जाता हूँ तो जान पडता है कि निंदा ही कर बैठा। सचमुच यह निंदा है या स्तुति, एक गोविंद ही जानता है। वही लाड़ से बोले हुए बोलो को चाहता है। भक्त तो केवल तोतली बातों से

उस का मनोरंजन करते हैं। इस प्रकार की हुई बच्चों की बातों में आवे भी क्या ? फिर-फिर से वही बात। बोला हुआ ही फिर-फिर से मैं बोलता हूँ। पर मन में संदेह नहीं होता। ईश्वर तो अनेकों की माता है। वह दयामय है। बच्चे कितना भी कोलाहल करें, वह खीझती नहीं, उलटा उन्हें समझाती ही है। अपने पास जो कुछ रहता है, उसे सबों को बाँटती है, बड़े प्रेम से खिलाती है। इसी लिए मैं समझता हूँ कि मेरा श्रम भी व्यर्थ न होगा। पर नहीं। माता की उपमा भी उचित नहीं। माता केवल इसी संसार में लड़के को खिलाती-पिलाती है पर जब बेचारा मर जाता है, तो खाली रोती बैठती है। परलोक में वह उस के लिए कुछ नहीं कर सकती, पर ईश्वर तो ऐसे नहीं हैं, उन का तो काल पर भी अधिकार चलता है। फिर उस की माता से तुलना कैसे की जाय ? अतएव इस ईश्वर के लिए क्या कहा जाय, बड़ी भारी समस्या है।

श्रीतुकाराम जी महाराज ने इस समस्या को बड़ी सुगमता से हल किया है। आप का कथन है कि परमेश्वर से भक्तों को काम ही क्या ? उन्हें तो केवल उस का अमृत भरा नाम लेना चाहिए। जब तक यह कामधेनु उन के पास है तब तक उन्हें कमी किस बात की है ? ऐसी माता कहाँ मिलेगी, जो अपना ही बच्चा न पहचाने। उसे देख कर तो उस का दूध थन फोड़ कर बाहर निकल आवेगा। जिसे आज तक किसी ने याचक के रूप में देखा न हो उसी से दान माँगने में लाज आवे ! हमें क्या ? बड़े-बड़े बहादुर आदमी भी केवल अपने नाम के लिए जान तक दे देते हैं, पर अपनी बाजी नहीं छोड़ते। अगर ऐसा है तो विट्ठल से करना ही क्या है ? उस का नाम गावे तो सब कुछ हो जाय। उसी ने यह सृष्टि बना कर नाम और रूप धारण किया है। उस का नाम लेते एक पल भी न गँवाना चाहिए। जब जड़ पास है तो सब पेड़ पास ही है। भिन्न विचारों से भिन्न-भिन्न भाव पैदा होते हैं। अतएव मुख में नाम लेते विचारों के पेट में उसी परमात्मा की छोटी-सी मूर्ति पकड़ कर रखनी चाहिए। पर इस के लिए भी पात्रता की आवश्यकता तो अवश्य ही है। अच्छे से अच्छा गहना भी किसी कुरूप गरीब के पास जाय तो उस गहने को भी रोना ही पड़ेगा। उत्तम और अधम की संगति कैसे जम सकती है ? जो रसोई पकाना नहीं जानता उस के लिए आगे रक्खा हुआ सब सीधा भी किस काम का ? एकाध रत्न अगर बकरी के गले में बाँधा जाय तो उस रत्न बेचारे की दुर्दशा ही है। एक के सिवा दूसरे को शोभा नहीं। इस लिए अमृत भरा नाम भी लें तो योग्यता तो होनी चाहिए। पर अगर हम में योग्यता नहीं है तो दोष किस का है ? किसी समर्थ पुरुष का पुत्र अगर दीन-सा नजर आवे तो लोग हँसेंगे किसे ? पुत्र को या पिता को ? वह कुरूप हो, अवगुनों से भरा हो—जैसा हो वैसा उसे सँभालना तो पड़ेगा ही। इसी प्रकार तुकाराम पतित होगा, पर तुम्हारी नाम-मुद्रा धारण किया हुआ तुम्हारा ही बच्चा है।

नम्रतापूर्वक शरण जा कर परमेश्वर पर ही अपना सब भार डालने पर श्रीतुकाराम जी महाराज का दृढ विश्वास था। आप के अभंगों में यह कल्पना अनेक बार बड़े अच्छे-अच्छे शब्दों में प्रकट हुई है। आप कहते हैं "नम्रता बड़ी अच्छी है। इस के सामने किसी का जोर नहीं चलता। नदी की बाढ में बड़े-बड़े पेड़ बह जाते हैं पर छोटे-

छोटे पौधे वैसे ही रह जाते हैं। समुद्र की बड़ी लहरे भी आवे तो वे ज्यो के त्यों रहते हैं। किसी के पाँव पकड़ लेने पर उस का क्या बल चल सकता है?" इस लिए उसी की शरण जाना चाहिए और अपना सब भार अनन्य भाव से उसी पर डालना चाहिए। तुकाराम के विषय मे यद्यपि ईश्वर को विस्मरण पडे, तथापि तुकाराम को वह दूर नही कर सकता। क्योंकि वह उसी का कहलाता है और इसी लिए ईश्वर उसे भूल भी जाय तो बहुत देर नहीं भूल सकता। दोनो को कोई दूर नहीं कर सकता। तुकाराम के सिर पर ईश्वर का हाथ है और ईश्वर के पैरो पर उस का सिर है। इस प्रकार दोनो का सबंध दृढ जम गया है। अब तो एक ही बात बाकी है। सेवा करना तुकाराम का काम और कृपा करना परमेश्वर का काम है। तुकाराम बडे प्रेम से कहते हैं, "अब तो गोद मे बैठ गया। अब दूर हूँगा ही नही। बहुत दिनो के बाद आज यह अवसर मिला है। अब तो मनमानी कर ही लूँगा। बहुत दिन तक मैं ने कष्ट सहन किए, पल भर भी विश्राति नहीं मिली। मैं और तू के द्वैतभाव से पास की वस्तु भी नजर न आई। अब तो जिस की राह देख रहा था, मिल ही गया। विठोबा, अब क्रोध करने से क्या लाभ?" "अगर मा ही गला काटे तो बच्चे को कौन बचावेगा? अगर कुमक ही लूटने लगे तो मदद कौन करे? राजा ही सब छीने तो उसे कौन रोके? अगर तुम ही न करो तो मन स्थिर कैसे हो? तुकाराम का तो सूत्र हरी के ही हाथ है। अर्थात् वह बचावे तो ही तुकाराम बचेगा" "प्रेम का अधिकार बहुत बडा है। यहाँ तक कि माँ बाप भी बच्चे से डरते हैं। वह अगर हठ कर रोने लगे तो उस के सामने उन का क्या वश चल सकता है? वह तो दामन पकड़ ऐसा लिपट जाता है कि उसी के साथ उन्हें आगे पीछे होना ही पड़ता है। वह जो चाहे सो बकता है पर उन्हे सुनना ही पड़ता है।" इस प्रकार प्रार्थना करते करते आप जब थक जाते तो कहते "बस, अब इस के बाद कुछ विनय करना बाकी ही न रहा। अब तो, हे पढरीनाथ, तुम्हारे पैरो पर सिर डाल पड़ा हूँ। जितनी युक्तियाँ पास थी, सब कर चुका। अब फिर निराशा की आशा क्यो करूँ?"

नम्रता के साथ ही साथ यह भी ख़ूब जानते थे कि सीधी उगलियो से घी नहीं निकलता। ईश्वर के साथ भक्त की दृष्टि से आप नम्र थे तो आश्चर्य ही क्या? पर जब कभी आप उस पर नाराज होते तो ऐसा लड़ते कि उस का भी कुछ ठिकाना नहीं। अपने प्रारब्ध को, अपने पापों को, अपने दोषो को ईश्वर से भी प्रबल मान आप कई बार लड़ बैठते। यदि यह परमेश्वर इन दोपादिको को दूर न करे और भक्तों को न बचावे तो सिवाय पूजने के दूसरा उपयोग ही क्या? जब आप बहुत चिढ़ते तो कहते कि अब मुरव्वत कहाँ तक रक्खूँ? अब तो निःशक हो कर बोल ही डालूँ। इस दुनिया में गूंगे की तरफ कोई ध्यान नहीं देता। जो शरमावे वो गमावे। अब तो मालिक के साथ बड़ी धीरता और धृष्टता से बोलना ही चाहिए। चलो, अब डब-फटकार समर्थ के साथ दो-दो हाथ हो ही जाएँ। देखिए आप ईश्वर के साथ कैसा भिड़ते! आप कहते "महाराज महद्भाग्य की बात है कि हम ऐसे पतितों की बदौलत ही आप को नाम और रूप मिला है। अन्यथा निराकार और निर्गुण ऐसे आप को पूछता ही कौन था? क्या आप जानते नहीं कि अँधेरे से ही दीप की शोभा है, लाख से ही रत्न जड़ा जाता है, रोगी की ही बदौलत धन्वंतरी

प्रकाश में आता है, विष ही के कारण अमृत की महत्ता है, पीतल के कारण ही सोने की कीमत है और नीचे से ही ऊँचे को मान है। हम लोग हैं, इसी लिए तो आप को देवत्व है।" फिर आप पूछते "क्या आप मेरा एक दुख दूर करने मे इतने दुर्बल हो गए? पारस लोहे का सोना करता है। कल्पवृक्ष पेड़ हो कर और चितामणि पत्थर हो कर भी इच्छित पदार्थ देते है। चदन के सुवास से दूसरे पेड़ सुवासित हो जाते हैं। इन सबों का क्या इन कामो से कुछ घट जाता है। तो आप का ही हमारी इच्छा पूरी करने मे कुछ घट जावेगा?" "आप अगर मेरे गुण दोष का ही विचार करते हो तो मैं आप मे साफ-साफ पहले ही कह डालता हूँ कि यहा तो पापो का ढेर है। पर आप तो पतितपावन कहलाते हो या नही? अपना-अपना धर्म हर एक को करना चाहिए। लोहा घन बन कर भी पारस को मारे तो क्या वह बिना सोना बने रह जावेगा? यह सच है कि खाली मिट्टी की कुछ कीमत नहीं, पर कस्तूरी के साथ रह कर भी उस की कीमत न बढ़ेगी?" निंदा करते समय आप पूछते कि "यह तो कहिए कि आज तक आप ने उद्धार ही किस का किया? खाली बिरुदावली बना रक्खी है। हाथ के ककन को दर्पन का क्या काम? देखिए न, मैं तो जैसा का तैसा ही हूँ। रोगी जैसा का तैसा ही बना रहे तो धन्वतरी ने किया ही क्या? निरी बाते कौन माने जब तक प्रत्यक्ष अनुभव न हो।" "आप ने आज तक भला ही किस का किया? आप तो पूरे निर्गुण और निष्ठुर हैं। माया तो आप को छू भी नही गई। आप ऐसा करते हैं जो आज तक किसी ने न किया हो। हरिश्चद्र का उदाहरण लीजिए। बेचारे का सारा राज्य हरण किया, स्त्री से वियोग करा कर पुत्र को मरवाया और डोम के घर उस से काम करवाया। नल-दमयती का जोडा कैसा था? पर आप ही ने उसे बिछुड़ाया। झूठ हो तो पुराणों से पूछिए। शिबि राजा कैसा दयालु था? पर आखिर आप ने उस का मास तराजू पर तुलवा ही दिया। कर्ण सा शूर समर मे भिड़ता हुआ देख उसे नीचे उतार उसी के दाँत आपने गिरवाए। राजा बलि कैसा उदार था! पर आप ने कैसा गजब कर के उसे पाताल पठाया! श्रियाल राजा के घर पहुँच उसी के हाथों उस का बच्चा कटवाया। आप की जो भक्ति करे उस की आप ऐसी ही गत बनाते हो!" "हे पुरुषोत्तम हमे तो आप का बड़ा भरोसा था कि इस भवसागर के सकट मे आप हमें तारोगे। पर हमे क्या मालूम कि जैसे अर्क-वृक्ष का प्रकाश नही पड़ता या दसेरे का सोना रहन नही रक्खा जाता, वैसे ही आप केवल नामधारी हो। अब तो यही उचित होगा कि आप अपना नाम छोड़ दे।" लड़ते-झगड़ते आप परमेश्वर को चाहे जैसी भली-बुरी सुनाते। अत मे यहाँ तक नौबत आ जाती कि—

मेरे लेखे देव मरा। जिसे होगा उसे हो ॥ १ ॥
न करूँ बात ना लूँ नाम। हुआ काम तमाम ॥ध्रु०॥
कभी स्तुति कभी निंदा। किया धंदा अपार ॥ २ ॥
तुका कहे चुप रहू। अब तजू जीवित ॥ ३ ॥

इतनी प्रार्थना करने या ऐसे लडने पर देव से श्रीतुकाराम महाराज माँगते क्या थे, इस का भी विचार करना चाहिए। पीछे एक स्थान पर कहा गया है कि तुकाराम

जी को सगुणभक्ति ही बड़ी प्रिय थी। पर आप की सगुणभक्ति न केवल द्वैतभाव पर निर्भर थी न निरे अद्वैत पर। द्वैतभक्ति के सिद्धात मे देव और भक्त की भिन्नता का ज्ञान अत तक रहता है। तुकाराम जी की भक्ति मे यह न था। यहाँ तो देव और भक्त एक रूप थे। केवल देव और भक्त ही एक रूप नही, पुरुष, स्त्रियाँ, बालक सभी नारायणस्वरूप थे। परतु यह होते हुए भी आप की उपासना नष्ट न हुई थी। वह ज्यो की त्यो बनी थी। 'मैं ब्रह्म हूँ' और 'वह तू है' इत्यादि महावाक्यो से आत्मा और ईश्वर का अभेद ज्ञान रहते हुए भी उपासना के हेतु आप ईश्वर को ईश्वर और भक्त को भक्त मानते थे। सब अवयव एक ही देह के होते हुए भी कर्म करने के समय चाहे जिस भाग से जैसे जो कर्म चाहे नही किया जा सकता, वैसे ही देव, जगत् और स्वय एक होते भी प्रत्यक्ष व्यवहार मे ये तीनो भिन्न ही मानने चाहिए। अद्वैत का ज्ञान आप को पूर्णतया हो चुका था, पर उस ज्ञान से आप के चित्त को शाति न मिलती थी। आप को तो भगवान् के चरणों की ही सेवा बड़ी मीठी लगती थी। देव और भक्त एक रूप हैं, इस सुख का अनुभव आप देव से भिन्न रह कर भी लेना जानते थे। ऐसे भक्त की याचना में यदि यह विचार पद-पद पर पाया जाय कि "भगवन्, हमेशा मेरी आँखो मे अपनी मूर्ति जड़ी रहने दो। हे मेरे सुहृत् पंढरीश, आप का रूप भी मीठा और नाम भी मीठा है। मुझे इन्हीं का प्रेम दो। अगर कुछ माँगना है, तो यही माँगता हूँ कि आप मेरे हृदय मे निवास करे। आप ही के चरणो के पास सब सुख है, फिर उन्हे छोड़ कुछ और क्या माँगू ?" तो आश्चर्य ही क्या है! इस सगुणभक्ति के अतिरिक्त आप और कुछ भी न चाहते थे। आप की इच्छा यही रहती कि सब इद्रियाँ परमेश्वर की सेवा मे और चित्त उसी के ध्यान में मगन रहे। इद्रियो को देह-संबध के कारण अन्यान्य काम करने पड़ें, पर मन हमेशा ईश-स्वरूप के चितन में ही लग्न रहे। गगरी पर गगरी सिर पर रख कर गूजरी जिस प्रकार खुले हाथ चलती है, लोभी को जैसे सब काम करते हुए धन का ही ध्यान रहता है, उसी प्रकार इद्रियो की ओर से अन्यान्य काम होते हुए भी मन के ईश्वर-चरणों पर ही आसक्त बने रहने की श्रीतुकाराम महाराज की प्रमुख याचना थी।

इस के सिवाय आप और कुछ न चाहते थे। वेदातियो के मोक्ष की तो आप को इच्छा भी न थी। आप बड़ी मौज से कहते कि "मोक्ष तो हमारे लिए मुश्किल ही नहीं। वह तो पल्ले मे बँधा है। पर यदि आप इस जीव के भक्ति-सुख को पूर्ण करे तो आनद है। जो जिस का है वही उसे देने में महत्ता क्या ? इस बात को समझ कर कि हमारा सुख किस मे है, हम उसी को चाव से लेगे। आप तुकाराम को ससार मे पैदा करे तो मजे से कीजिए पर उस के मन में अपनी प्रीति को अवश्य स्थान दीजिए।" वेदातियों के मोक्ष की तरह कर्ममार्गियों के स्वर्ग की भी आप को अभिलाषा न थी। आप कहते—"हे देव ! न हमे आप का बैकुठ चाहिए न सायुज्य मुक्ति। अगर देना ही है तो केवल अपना नाम हमे दो। क्योंकि बैकुठ में भी और क्या रक्खा है !" "नारद, तुबरु, उद्धव, प्रह्लाद, बलि, रुक्मागद, सिद्ध, मुनि, गधर्व, तथा किन्नर—वहाँ पर केवल आप का नाम और उस के विषय मे अखडित प्रेम !" सासारिक मनुष्यो के-से अन्यान्य सुख तो आप कभी मागते ही न थे। आप तो प्रार्थना करते कि

"हे हरे, संतान न दो। संभव है कि उस के प्रेम में आप को भूल जाऊँ। द्रव्य तथा भाग्य न दो क्योंकि अगर इन की प्राप्ति हो तो इन के नाश के बाद दुःख होने का डर है। बस आप तो मुझे फक़ीर-जैसा बनाइए जिस से कि रात दिन आप ही की याद रहे।" ज्ञान-विज्ञानादिकों की भी आप को अपेक्षा न थी। आत्म-स्थिति का अर्थात् आत्मा ब्रह्म है इस ज्ञान का तो आप विचार करना भी न चाहते थे। सायुज्यता मुक्ति आप को न भाती थी क्योंकि उस कल्पना में देवभक्ति का मजा चखना असंभव था। इसी प्रकार देव को निर्गुण और निराकार आप नहीं मानना चाहते। क्योंकि निर्गुण माने तो गुणवर्णन कैसे हो और निराकार माने तो पूजन कैसे हो। इस अनपेक्षा का कारण आप यों बताते कि "मीठे को मीठा मीठा नहीं लगता" अर्थात् ये सब बातें तो हमारे पास ही हैं। फिर इन की प्राप्ति की प्रार्थना करने से क्या लाभ? अगर प्रार्थना करनी ही है तो देवभक्ति की करनी चाहिए क्योंकि उस में प्रतिदिन भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ मान, भिन्न-भिन्न प्रकार का मजा उठा सकते हैं।

जिस प्रकार कुछ बातों की प्राप्ति के विषय में परमेश्वर से प्रार्थना करनी पड़ती है, उसी प्रकार कुछ बातों के विषय में ऐसी विनय करनी पड़ती है, कि उन से ईश्वर बचावे। इन त्याज्य बातों में आप ने अहंभाव को सब से प्रमुख स्थान दिया है। मनुष्य इतना पराधीन और ऐसा दुर्बल रहते हुए भी कितना अहंभाव रखता है? इस विषय में आप ने कई उदाहरण बड़े अच्छे दिए हैं। सूर्योदय के समय मुर्गा कू-कू-कू करता है। पर इस पर से यदि वह अपने को सूर्योदय का कारण समझे तो उस की मूर्खता को क्या कहना चाहिए? तराजू कहे कि "मैं तौलनी हूँ" पर वह बेचारी क्या जाने कि तौलनेवाला दूसरा ही है। सिक्का समझता है कि उस की कीमत है, पर वह नहीं जानता कि उस की नहीं राजा के छाप की है। काठ की पुतली नाचती है पर क्या वह अपने ही मन से नाचती है? उस की डोरी हाथ में पकड़नेवाला दूसरा ही होता है। इसी प्रकार मनुष्य अहंकार करता है, पर वह बिल्कुल भूल जाता है कि वह कुछ नहीं कर सकता। पेड़ की पत्ती भी जिस की आज्ञा के बिना नहीं हिलती, उसी की इच्छा बिना वह क्या कर सकता है? पर ऐसा होते भी मनुष्य अहंकार से कैसा फूला फूला फिरता है? इसी लिए तुकाराम जी की सदा प्रार्थना रहती कि "भगवन् इस अहंकार की गर्दन मारो।" अहंकार के साथ ही दुर्बुद्धि से भी दूर रखने के लिए तुकाराम जी की सदा प्रार्थना रहती थी। बुद्धि का महत्व सब से अधिक है। मनुष्य को किसी काम में प्रेरणा देनेवाली यही प्रधान है। अतएव ब्राह्मणों ने अपने गायत्री-मंत्र में इसी बुद्धि के प्रेरक सवितृदेव की प्रार्थना की है। तुकाराम जी भी सदा प्रार्थना करते कि "हे नारायण मन में दुर्बुद्धि कदापि पैदा न होने दो। अब तो ऐसा कीजिए कि आप के चरण कमल ही मन में दृढता से धरूँ। जो भाव मेरे मन में पैदा हुआ है, वही आपकी कृपा से सिद्ध हो जावे तो, उस से अधिक कुछ भी लाभ मैं न समझूँगा।" इसी प्रकार सब बुरी वासनाएँ, काम क्रोधादि षड्रिपु, आलस्य इत्यादिकों से भी बचाने की प्रार्थना तुकाराम जी ने की है। आलस्य के बारे में आप ने ईश्वर से प्रार्थना की है कि अगर आलस्य देना ही है तो विषयोपभोग के विषय में आलस्य दो। कई लोग पुन-

जन्म से बचने की प्रार्थना करते हैं, पर तुकारामजी कहते "हे पांडुरग, मेरी विनय सुनना हो तो मुझे मुक्त न करो, पर जन्म पर जन्म ऐसे दो जिन में आप के चरणों की सेवा करने का अवसर मिले। फिर स्वर्ग की भी मुझे इच्छा नहीं। मृत्यु-लोक में भी हम सुखी रहेगे।"

आप की एक याचना सदैव यह रहती कि दुर्जनों की सोहबत से ईश्वर बचावे। इन दुर्जनो से आप को सब से बडी तकलीफ यह होती थी कि, ये लोग भजन के विषय में वाद-विवाद कर के चित्त मे विकल्प पैदा करना चाहते थे। "इन लोगों ने ऐसा पीछा किया है कि कुछ बोल ही नही सकता। जो बात मुझे नहीं समझ मे आती वह सदा पूछते है। पैरों पड़ने पर भी नही छोड़ते। मैं तो तेरे पैरो के अतिरिक्त और कुछ जानता ही नही। मुझे तो सब जगह तू ही तू दिखता है। इन वादक भाडों से कहाँ तक वाद करूँ? इन की जीभ तालू मे ही क्यो नही चिपकी रहती? खाते तो हैं प्याज और बातें करते हैं कस्तूरी की!" इसी लिए सज्जनो के समागम की आप सदा इच्छा करते। सतो का अनुभव प्राप्त करने की, उन्ही के सेवक होने की, उन्ही के ही अधीन रहने की आप की सदा इच्छा रहती। आप के ये विचार इस सीमा तक पहुँचते कि पढरीनाथ को कुलदेवता माननेवालो के दासियों का भी पुत्र होने की, पढरी की वारी करनेवाले के घर का जानवर भी बनने की, दिन रात श्रीविट्ठल का चिंतन करनेवालो के पैर की जूती होने की या तुलसी-पूजन करनेवालों के यहाँ झाड़ू भी करने की आप ईश्वर से प्रार्थना करते। सज्जन दुर्जनो के विषय में तो यह बात हुई, पर सर्वसाधारण लोगो की ओर से भी आप को बड़ी तकलीफ़ होती। ये लोग बिना समझे-बूझे या तो स्तुति करते या निदा। इस मिथ्या और अवास्तव प्रशसा या निदा से मनुष्य ख़ुद को भूल जाता है और स्वय अपने को दूसरे ही स्वरूप मे देखने लगता है। इसी उपसर्ग से बचाने के लिए आप ईश्वर की सदा प्रार्थना करते। इसी हेतु आप एकात-वास की इच्छा करते। आप समझते थे कि प्राचीन ऋषि-मुनियो ने इसी लिए लोगो से दूर जगलो में रहने का निश्चय किया, इसी लिए कद-मूल फल खा कर वे अरण्य में जा रहने लगे, इसी लिए उन्हो ने ध्यान लगा कर, मौन-मुद्रा धारण करने का अभ्यास किया होगा और इसी लिए आप भी यही चाहते थे कि लोगो से दूर रहे। श्रीतुकाराम जी महाराज ऐसे मनुष्यों की सोहबत चाहते थे, जो इन के मन का भाव समझ सकते। यही बात आप ने एक उदाहरण द्वारा भली भाँति समझाई है। एक कानडिन की एक मराठे के साथ शादी हुई। दोनों एक दूसरे की भाषा से परिचित न थे। एक बार स्त्री ने कानडी में पुकारा 'इलबा' अर्थात् 'अजी'। मराठा कानडी कहाँ समझता था? उस ने अपनी ग्रामीण मराठी में समझा कि यह दूर होने के लिए कसम दे रही है, अतएव वहाँ से चला गया। यह उदाहरण दे कर तुकाराम जी कहते हैं कि "जो एक से एक मिलते नही, उन के मेल में सुख की बातों से भी दुःख ही बढ़ता है।" आप इसी लिए ऐसे लोगो का सहवास टाल कर सज्जनो की सगति चाहते।

नाम-स्मरण के विषय में आप की बड़ी दृढ़ श्रद्धा थी। 'मन में काम, मुख में राम' या

मनका फेरत जुग गए, पाय न मन का फेर।
कर का मनका छोड कर, मनका मनका फेर॥

इत्यादि उपदेशों से या दभ से आप अपरिचित तो थे ही नहीं। ईश्वर का ध्यान मन में रहने के विषय मे आप कितने पक्षपाती थे, ऊपर कहा ही गया है। फिर भी यदि कोई ऐसा कहता कि "जब तक हमारे मन मे ईश्वर नही आता, तब तक नाम लेने से क्या फ़ायदा ?" तो जैसा कि किसी हिंदी कवि ने कहा है—

राम राम रटते रहो, जब लग तन में प्रान।
कबहुँ तो दीनदयाल के, भनक पड़ेगी कान॥

आप भी कहते "मन मे हो या न हो, पर मुख मे तो रहे। इसी विट्ठल का नाम लेते और चिंतन करते देह छूट जावे। दभ से हो या किसी अन्य प्रकार से हो, लोग हरि का दास तो कहे। ऐसा करते-करते ही कुछ काल में ईश्वर अवश्य ही सँभालेगा।" आप की यह श्रद्धा अंत तक अविचल रही और अंत मे परमेश्वर ने आप को सँभाला भी।

दशम परिच्छेद

आत्मपरीक्षण और अनुताप

जिस वस्तु को मनुष्य स्वय पा सकता है, उस के लिए वह किसी की प्रार्थना नही करता। पर जब कोई वस्तु जिसे वह चाहता है, उसे नहीं मिलती, तब वह जिसे अपने से बड़ा या उस वस्तु के देने में समर्थ समझता है, उस से उस वस्तु को माँगता है। इसी माँगने को प्रार्थना कहते हैं। प्रार्थना करना मनुष्य मात्र का स्वभाव है। बचपन से ही उसे इस की आदत पड़ी हुई है। बचपन मे वह स्वय कुछ नही कर सकता। हर एक बात के लिए उसे माँगना ही पड़ता है और माता पिताओं का प्रेम जिस पर जितना अधिक हो, उतनी ही उस की माँगने की आदत बढती जाती है। अपनी माँग पूरी करने-वाले को ही परमेश्वर समझना है। बाल्यावस्था में जब कि अकेली माँ उस की सब इच्छाएँ तृप्त करने मे समर्थ होती है, तब वह माँ को ही ईश्वर-स्वरूप मानता है। वयोवस्था के बढ़ते-बढ़ते वह समझने लगता है कि उस की सब इच्छाएँ पूर्ण करने के लिए न तो माता समर्थ है, न पिता, न भाई, न मित्र या न राजा। इसी इच्छा-विकास के कारण सर्व-शक्तिमान् सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर की कल्पना प्रादुर्भूत हुई, जो कि अपनी सब कामनाएँ पूरी करने मे समर्थ हो। बचपन की उसी आदत से मनुष्य को ईश्वर की प्रार्थना करने की बुद्धि होती है और जो बात दूसरे किसी से मिलने की सभावना न हो, उस के लिए वह प्रायः ईश्वर की प्रार्थना करता है।

प्रार्थना करते-करते जब वह थक जाता है तब चिढ कर भली-बुरी सुनाता है। और

लड़ता है। अंत मे जब देख लेता है कि प्रार्थना से या निंदा से अपनी कोई नहीं सुनता, तब निराश हो 'अब मेरा कोई नही है। मेरी मनोकामना पूरी करनेवाला देव भी मर गया' कह उठता है। पर जो निराशा उस से देव को मरवाती है, वही निराशा उसी मृत देव की कल्पनाओ मे से एक समर्थ और सजीव ईश्वर निर्माण करती है। जब वह देखता है कि अब कोई तारनेवाला नही है, वह परमेश्वर की शरण जाता है। पर उसे भी उद्धार करने मे असमर्थ पा जब वह खुद ही अपनी वांछित वस्तु पाने के लिए कमर बाँध लेता है, उसी समय सत्य-संकल्प परमेश्वर उस की आत्मा मे वह प्रार्थना पूरी कर लेने की शक्ति प्रेरित करता है। फिर वह सोचने लगता है कि इष्ट वस्तु-प्राप्ति उसे क्यो न हुई। क्या उस ने योग्य प्रयत्न किए थे ? यदि किए थे तो उन मे क्या त्रुटियाँ रह गई थी। या 'मर्ज दीगर दवा दीगर' हो गई थी। इन सब बातो को बड़ी गौर से जब वह देखता है तब उसे अपने असफल होने के कारण समझ मे आते हैं। इसी विचार को आत्म-निरीक्षण कहते हैं। इस आत्म-परीक्षा के बाद जब वह भली भाँति अपनी त्रुटियों से परिचित हो जाता है, अपने दोष समझ लेता है, तब वह उन पर आँसू बहाता है और आगे के लिए उन त्रुटियो को टाल कर या उन दोषों को दूर कर ठीक राह से उद्योग करता है। अंत मे वह सफल हो बैठता है। कई बातो के मनुष्याधीन न होने से उसे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की ओर दौड़ना पडता है। इस परमेश्वर-प्रसाद के विषय में भी पूर्वोक्त सभी बातें होती हैं। श्रीतुकाराम जी महाराज बड़ी भक्ति से ईश्वर से वर माँगते थे और उस के लिए ईश्वर की प्रार्थना करते थे। उस पर नाराज भी हो बैठते, लड़ने, निंदा भी करते और बार-बार अपनी मनकामना उस पर विदित करते। पर केवल विदित करने से या प्रार्थना, निंदा इत्यादि बातों से कहीं मनोरथ पूरे होते हैं ? जब निंदा, स्तुति, लड़ाई इत्यादिको से थक जाते, तो आत्म-परीक्षण करते, त्रुटियाँ ढूँढते, उन्हे त्याग फिर यत्न करते और अंत में सिद्धि पाते। यह मनःस्थिति एक ही बार न होती पर बराबर अव्वल से अखीर तक रहती। जिस मनोवृत्ति मे आप होते उसी के अनुरूप आप के मुख से अभंग निकलते। गत परिच्छेद में हम उन का परमेश्वर के साथ संवाद संक्षेप मे सुना चुके हैं। इस परिच्छेद मे थोड़ा आत्मपरीक्षण तथा अनुताप का भी आलाप सुनें।

आत्मपरीक्षण के समय सब से अधिक तीव्रता से जो बात ध्यान में आती है, वह है मन की दुर्जयता। जब श्रीकृष्ण भगवद्गीता का उपदेश अर्जुन को करने लगे, तब सब से प्रथम यही समस्या अर्जुन के सामने उपस्थित हुई। उस ने भी यही प्रश्न किया कि "भगवन्, यह मन बड़ा चंचल और जबरदस्त है। यह सबो को मथता है। इसे थाम रखना वायु को बाँध रखने की भाँति बड़ा कठिन है।" श्रीतुकाराम महाराज ने भी आत्म-परीक्षण विषयक अपने अभंगों में इस मन का अनिवार्यत्व बडे अच्छे प्रकार से बतलाया है। इसी मन के कारण आप ने अपनी एक जगह कुत्ते से उपमा दी है। कुत्ता जैसे इस बात का विचार न कर के कि वह साफ है या नहीं, मालिक के पैरों मे आ लिपटता है, मालिक को रोटी खाते हुए भी देख कर वही अपनी दुम इधर-उधर झाड़ता है और मालिक के क्रोध का ख्याल न रख उस के शरीर पर चढ़ बैठता है, उसी प्रकार परमेश्वर के पास

जाने में तुकाराम जी की स्थिति हुई थी। कितना भी विचार कर देखो, सदैव ध्यान में यही आता है कि मन क़ाबू में नही। एक घड़ी भर तो क्या, पल भर भी यह एक विषय पर स्थिर नही रहता। इद्रियो के आकर्षणानुरूप यह सबो से पहले आगे दौड़ता है। मछली की भाँति एक दफ़ा निगला हुआ गल यह बाहर नहीं उगल सकता। जिस तरह ललचाया ढोर पीठ पर मार खाते हुए भी खाने की चीज से अपना मुँह दूर नही करता। मार खाता ही चला जाता है, पर गल्ले मे मारा मुख हटाता नही, उसी तरह ऊपर से दुःख की चोटे पडते भी यह बेशरम मन विषयो से दूर नहीं होता। बकरी जैसे चट्टान पर दौड़ती चली जाती है। इस बात का विचार नही करती कि आगे जाने से गिरेगी या मरेगी। पर पीछे से डर मालूम होते ही कूद पड़ती है। मन का ठीक यही स्वभाव है। इस मन का दूसरा एक दोष यह है कि किए हुए निश्चय पर यह दृढ नहीं रहता। पल-पल पर उस का निश्चय बदलता है। अच्छे-अच्छे विषयो पर दृढ विचारों से भी निश्चित किया हुआ मन फिर फिर विकल्पो से भर जाता है। समुद्र की उछलती हुई लहरो का-सा इस का स्वरूप सदा बदलता रहता है। इस की प्रार्थना या विरोध जिस प्रमाण मे किया जाय, उसी प्रमाण में वह प्रार्थित विषयो से दूर और निषिद्ध विषयो की ओर दौड़ता जाता है। जितने व्यवसायो में यह पड़ता है, उन्ही के रग ले कर यह मन उठता है, और इस प्रकार अनेक रगो से रँगे जाने के कारण इस पर एक भी रग भली भाँति जमता नही है।

श्रीतुकाराम जी महाराज को सदोदित जिन बातों का अनुताप था, उन में एक बात यह थी कि सतो के वाक्यो को प्रमाण मान आप जिन विषयो पर श्रद्धा रखते थे, उन का बहुत दिनो तक आप को स्वय अनुभव न था। तब तक आप हमेशा श्रीविट्ठल की यही प्रार्थना करते थे कि "जैसा मुख से कहलाते हो, उसी प्रकार का मुझे स्वय अनुभव होने दो, अनुभव होने दो। अन्यथा फजीहत का ठिकाना नही। बिना निमक के बनाया हुआ भोजन किस काम का? बिना जान की लाश को सिंगारने से क्या फायदा? स्वाग बनाया, पर उस के अनुरूप यदि आचरण न हो, तो लाभ ही क्या? दूल्हा-दुलहिन के न रहते शादी की सब तैयारियाँ की जावें तो पैसे का फ़जूल ही खर्च है। स्वानुभव के बिना कोरी बाते ही बाते व्यर्थ समझनी चाहिए।" जब तक भक्तिसुख का अनुभव न हो, तब तक ज्ञान की बाते ही बाते क्या कर सकेंगी? केवल अद्वैतवाक्यों का विवरण कितना भी किया, पर स्वानुभव के बिना वह सब निरर्थक ही है। वे महावाक्य केवल तोते के-से रटे हुए शब्द हैं। वे शब्द भोजन किए बिना खाली पेट आनेवाली डकारो के से ही हैं। जब-जब आप इस बात पर विचार करते कि कीर्तन मे या उपदेश मे आप ऐसी कई बातों का हवाला देते थे जिन का कि स्वय आप को अनुभव न था, तब आप को बड़ा बुरा लगता और उसी अनुताप में आप कह उठते कि "पुरुष जैसा पढ़ाओ वैसा बोल उठता है, पर स्वय न तो उन शब्दो का अर्थ भली भाँति समझता है, न उस दशा का ही अनुभव करता है। स्वप्न में राज्य-प्राप्ति होने से जैसे कोई राजा नही होता, वैसे ही मेरा अनुभव है। रसीली कविता कर लोगो के मन रिझाता हूँ, पर यह तो केवल जिह्वा का अलंकार हुआ। इस से श्रीहरि के चरणो की प्राप्ति कहाँ? यह तो वैसा ही है जैसा

गौवें चरानेवाला मन में समझे कि 'गाएँ मेरी हैं'। पर इस मिथ्या समझ से सचमुच क्या फ़ायदा ? लोग मुझे मानते हैं, इस की मुझे बड़ी लाज आती है। क्योंकि जिस के लिए वे मुझे मानते हैं, वस बात तो मेरे पास है ही नहीं। यह बड़प्पन तो उसी प्रकार का है जैसा कि तौलते-तौलते घिस जानेवाले वजन का हो। कोमल काँटा अग्र मे नोकदार भी हो, तो भी ऊपर कड़ा न होने के कारण चुभता नही है। खिंची तसवीर मे का रूप कैसा भी सुंदर हो, जब तक उस मे जान नही तब तक उस की सुंदरता व्यर्थ ही है। उसी प्रकार अनुभव न होने से हे भगवन्, तुकाराम तो निकम्मा ही जान पड़ता है।" "खपरे के होन बना कर बच्चे खेलते हैं पर उस लेन-देन मे क्या सचमुच लाभ या हानि होती है ? कढ़ी की भी बातें और भात की भी बातें—इन बातो से क्या किसी का पेट भरता है। 'शक्कर' अक्षर काग़ज पर लिखने और उन्हे चाटने से क्या वे मीठे लगेंगे ? इसी प्रकार क्या केवल शब्द ज्ञान से किसी का उद्धार हो सकता है ? अनुभव के बिना यह तो केवल मसखरा-पन है।"

ऐसा होते हुए भी अभिमान कभी-कभी आप को सता ही जाता। कभी-कभी आप को ऐसा जान पड़ता कि उन की अपेक्षा दूसरा कोई अच्छा बोलनेवाला भी नहीं। अभिमान से छूटना बड़ा कठिन है। तुकाराम जी कहते "आग लगे ऐसे ज्ञान के अभिमान को। इस ने मेरा खून किया है। खाया हुआ अन्न अगर पचे तो ही हितकर है। अगर वह अन्न उगल पड़े, तो शरीर को पुष्ट करने के बजाय वह पीड़ा ही देगा। इकट्ठे किए धन का यदि कोई उपभोग कर सके तो ही ठीक। अन्यथा तो वह जान की आफत ही है। ऐसे ज्ञान से तो पूरा अज्ञान ही अच्छा है।" ज्ञान का अभिमान होते ही ईश्वर-स्वरूप से वह अभिमानी ज्ञानी दूर होता है। बच्चा सुजान होते ही मा उसे दूर-दूर रखती है। पानी के बूँद का मोती बनते ही वह पानी से दूर किया जाता है। मक्खन दूध से अलग निकलते ही दूध के ऊपर तैरने लगता है। उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी ईश्वर से दूर ही होता है। तुकाराम जी ने कहा है "मेरी जाति हीन होते हुए भी लोगो ने—सत-सज्जनो ने—मेरी स्तुति की। इसी कारण मेरे मन में गर्व पैदा हो गया। अब वह मेरा सर्वस्व हरण करना चाहता है। इसी कारण मैं ऐसा फूल उठा और मन में समझने लगा कि मैं ही एक ज्ञानी हूँ। हे पंढरी-नाथ, तुकाराम इस गर्व से मुफ़्त मारा जाता है। उसे बचाओ।" इसी अनुताप से तप्त हो आप प्रार्थना करते कि "मुझे न तो सुख चाहिए, न मान। पर मैं क्या करूँ ? लोग रहते नहीं। इस देह के उपचार से मेरा शरीर जल रहा है। अच्छे से अच्छा मीठा अन्न भी विष जैसा जान पड़ता है। मेरी बड़ाई बखान करनेवाले लोगों की स्तुति अब मुझ से सुनी नहीं जाती। मेरा मन बहुत घबरा रहा है। इस मृगजल में मुझे क्यों फँसाते हो ? मेरा यथार्थ हित करो। जलती आग से मुझे बचाओ और ऐसी कुछ तरकीब करो जिस से मुझे आप के चरणों की प्राप्ति हो।"

ईश्वर-प्राप्ति के जो अन्यान्य साधन माने जाते हैं, उन मे से आप ने बहुत ही थोड़ों का अवलंब किया था। आप के लिए यह एक अनुताप के विषय की बात थी। वेदाङ्गों को पाठ करने का अधिकार न होने के विषय मे आप को जो क्षोभ था,

उस का हवाला हम पीछे दे ही चुके हैं। उसी का वर्णन इन स्थानो मे भी पाया जाता है। ये सब ईश्वर-प्राप्ति के साधन बडे कठिन हैं। अन्न छोड़ कर उपवास करना, जंगल मे जा कर रहना, जप, तप, आदि करना, मनोनिग्रह करना, तीर्थयात्रा कर एक तीर्थ का जल दूसरे स्थान के ईश्वर को ले जा कर चढाना इत्यादि अनेक उपायो मे से आप के हाथो एक भी न हुआ था। आप तो केवल वाणी से स्तुति करते थे। उस मे भी आप अपने को कम बुद्धिमान् समझने के कारण सतुष्ट न थे। भाग्य से तो आप ऐसे हीन थे कि जिस काम को हाथ मे लेते वही आप पर उलटता ! न आप के हाथो भलीभाँति ससार हुआ था, न इतने दिनो तक आप को परमेश्वर प्राप्ति हुई थी। इस पर आप को अनुताप होता था। न जमीन से कुछ प्राप्ति होती थी, न लोगो से आप भीख माँगते थे। इस प्रकार आप अपने को पूरी तौर से हीन समझते थे। आप को इन्ही कारणो से जान पड़ता कि "मैं दूसरे के दोषो को क्यों देखूँ ? मुझ मे उन की क्या कमी है। दूसरो के पापो का विचार करने से मुझे क्या लाभ ? मेरे पास क्या वे कम है ? दूसरे की दुष्टता का बयान क्यों करूँ ? क्या मुझ में वह उन से एक रत्ती भर भी कम है ? कर्तव्य को टालनेवाला और झूठा तो मुझ से बढ़ कर कोई न होगा जिस की तलाश मे मैं फिरूँ ! सब प्रकार की हीनता से मैं पूरा हूँ। पर हे पढरीनाथ, ये सब बातें केवल आप के चरणो मे समर्पित कर चुका हूँ।" इसी अनुताप के कारण जब-जब आप को श्रीविट्ठल प्रसाद की कल्पना होती थी, आप का हृदय कृतज्ञता से भर आता था। उस पर भी जब कभी आप को मनुष्य-स्वभावानुरूप अपनी भक्ति भी घटती जान पड़ती, आप को बहुत बुरा लगता। आप कहते "हे नाथ, पहले जो प्रेम मेरे मन मे आप के विषय मे था वह भी अब न रहा। मेरा मन मुझे इस बात की गवाही देता है कि मेरी ईश्वर-विषयक भक्ति दिन-प्रतिदिन घटती जाती है। यह सोच कर तो मेरे मूलधन मे ही मुझे घाटा दीख रहा है। स्वय अपने को पूज्य बनाने के हेतु मैं दूसरो में गुण-दोष कई बार दिखलाता हूँ। यह तो ठीक मुर्गे की-सी ही बात है जो अपने पैरो से आगे-आगे खरोचता चला जाता है यहाँ तक कि निकले हुए दानो को भी न देख उन पर भी धूल फेकता ही जाता है।"

प्रायः यह माना जाता है कि षड्रिपुओं में काम, क्रोध और लोभ सब से अधिक प्रबल होते हैं। पर इद्रिय दमन करनेवाले लोगो का अनुभव है कि इन तीनो को इतना प्रबल न मानना चाहिए जितना कि दूसरे तीन अर्थात् मोह, मद और मत्सर को। पहले तीनों के विषय मे यह कह सकते हैं कि उन का प्रादुर्भाव न केवल उसी मनुष्य की समझ मे आता है जिस के कि चित्त मे ये आ कर जम जाते है वरन् अन्य पुरुषो को भी यह ज्ञान हो जाता है कि फ़लाँ आदमी मे ये तीन शत्रु जम गए हैं। इन का स्वरूप ही ऐसा स्थूल है कि वह छिपाए छिपाया नहीं जा सकता। परतु इस दूसरे तिगड्डे की बात और ही है। ये तीनो इतने सूक्ष्म-रूप से हृदय मे प्रवेश करते हैं कि दूसरो की तो बात ही क्या, खुद उस मनुष्य को भी जिस के कि मन में ये प्रादुर्भूत होते हैं, पता तक नहीं चलता कि ये चोर भीतर घुसे हैं या नही। प्रकट रूप से रहनेवाले वैरी से रक्षण कर लेना सुलभ है, पर इन छिपे शत्रुओं से छुटकारा पाना बड़ी टेडी खीर है। दंभ इन तीनों का मिश्र या सयुक्त स्वरूप है।

मोह से मनुष्य को अपने निज स्वरूप की भूल हो जाती है। वह स्वय अपना असली स्वरूप नहीं पहचान सकता। मद से वह अपने को दूसरे ही प्रकार का समझने लगता है। अपने में न होते हुए सद्‌गुणों की भी वह अपने तई मिथ्या कल्पना कर लेता है। जब इन दोनों का असर भली-भाँति जम जाता है, तब मत्सर उसे दूसरो के विषय मे अधा करता है। फिर उस को दूसरों के राई से दोष भी पहाड बराबर नज़र आते है। तथा दूसरों के पर्वत-प्राय सद्‌गुणों पर उस की आँखे ही नहीं पडती। इन तीनो के कारण एक प्रकार की आत्म-वचना होने लगती है। इस के कारण मनुष्य अपने दोष नही देखता, गुण ही गुण देखने लगता है, यहाँ तक कि अपने दुर्गुणो को भी सद्‌गुण समझने लगता है। दूसरो के प्रति उस की दृष्टि इतनी कलुषित होती है कि उन के सद्‌गुण तो इसे दीखते ही नही। केवल दुर्गुण ही दुर्गुण दिखाई देते हैं। यहाँ तक कि उन बेचारों के सद्‌गुण भी इसे दुर्गुण के ही स्वरूप मे गोचर होते हैं। बस, दभ का यही स्वरूप है। ऊपर की खूब बनाता है, अदर की छिपाता है और बाहर की दृष्टि बदल देता है।

दभ पर श्रीतुकाराम जी महाराज की बड़ी वक्र दृष्टि थी। अच्छे कामों का ढोंग करने के आप पक्षपाती केवल इसी लिए थे कि अच्छे काम करने की दभ से क्यों न हो पर आदत पडे। परतु इस से यह न समझना चाहिए कि आप दभ के पक्षपाती थे। दभ का निषेध आप ने बड़ी तीव्रता से किया है। दभ पर आप कहते हैं "ज़बरदस्ती बाहर का स्वाँग तो खूब बनाया, पर मन मे तो बुरी बातों का त्याग हुआ ही नही। इस बात का तजरुबा मुझे नित्य प्रति रहा है। क्षण भर जाग्रतावस्था आती है पर फ़ौरन ही जो स्वप्न दीखने लगते हैं, उन मे जागती हालत का अनुभव नही होता। वह सब भूल जाता हूँ। इस संसार के बाहर तो मन अभी गया ही नही। वह तो दिन-प्रतिदिन उन्ही धधो को कर रहा है। यह तो हुई बहुरूपी लोगो की-सी बात कि ऊपर का रूप बदला पर भीतर ज्यों का त्यों रहा।" ऊपर से हरिदास कहलाते, भीतर भिन्न भाव रहता। गाना, नाचना, भजन करना, सब लोगों को दिखलाने के लिए होता है। नारायण का असली प्रेम दूर ही रहता है। जो असल मे समझना चाहिए वह तो समझता नही। केवल दभ मे डूबे जाते हैं। कालपुरुष ने आयु-मर्यादा की गिनती नियत कर दी है। रोज उस में कमी ही होती जाती है। पर मनुष्य इन बातो का विचार कहाँ करता है? सत्य का स्वरूप तो भीतर-बाहर एक-सा रहता है। फिर जहाँ अदर एक, बाहर एक वहाँ सत्य की उपस्थिति कैसे हो? धरे तो परमेश्वर-प्राप्ति की इच्छा और करे बुरे काम! फिर ईश्वर कैसे मिले? यही बात ध्यान मे ला कर, आप परमेश्वर से लडते-झगडते रह जाते। आप के ध्यान मे आ जाता कि मन में ससार की बाते और बाहर भक्ति का ढोंग है। इसी लिए परमेश्वर के चरण दूर हैं। "मन में बसे लोभ अरु आसा। लोग कहत हैं हरि के दासा।" इस प्रकार से न तो देव मिलता है, न संसार होता है। दोनों ओर से मनुष्य चोर ही ठहरता है। पानी मे कूद पड़े, पर जिन तूबों के आधार पर कूदे, वे ही यदि फूटे हो, तो किनारे कैसे लगे? मन में तो षड्रिपु जाग रहे हैं। ऊपर से भगवद्भक्त कहलाते हैं। यह तो वैसे ही हुआ जैसे, "पेट में उठ रहा है शूल और ऊपर से लगाया जाता है चदन। उस चंदन-चर्चन से क्या

सुख ? बुखार से मुँह हो रहा है बेस्वाद और आगे रक्खे जायँ मीठे-मीठे भोजन। पर वह बेचारा उन का स्वाद कैसे ले ? इसी प्रकार हे पंढरीनाथ, आप ने लोगों में तो मेरी प्रतिष्ठा ख़ूब बढाई, पर जब तक मेरा दिल न सुधारे तब तक यह सब किस काम का ?"

संसार छोड़ने के विषय मे आप का दृढ मत था कि जब तक मनुष्य अपनी सब आशाओ का त्याग न करे, अपनी आशाओ का वृक्ष समूल न उखाड़ सके, तब तक उस को वैरागी न बनना चाहिए। तब तक उस के लिए तो यही ठीक है कि वह ससार में गृहस्थ ही बना रहे, नहीं तो न इधर का रहेगा न उधर का। इसी कारण श्रीतुकाराम महाराज ने यद्यपि ससार वास्तव-रूप मे मन से छोड़ दिया था, तथापि आप ने वैरागी-वृत्ति को स्वीकार न किया था। परतु इसी कारण कभी-कभी आप के मन में ऐसा भी विचार आता कि स्त्री पुत्रादिको के विषय मे थोड़ी बहुत आशा रहने के कारण और विषयो में मन आसक्त रहने के कारण ही ईश्वर दूर रहा। कभी-कभी लोक-लाज के लिए आप कुछ काम करते, पर अत में समझते कि इन्हीं कामो से परमेश्वर दूर रहा। पर पीछे से पछताने में क्या लाभ था ? अगर पहले ही यह बात समझ मे आ जाती तो यह गलती आप क्यो होने देते ? एक दम ही ईश्वर के चरणो पर जा गिरते और दूसरी किसी बात को आड न आने देते। झूठ के बस क्यों होते और फजूल बोझ सिर पर क्यों उठाते ? गर्भवास ही क्यों लेते और कुटुंब की सेवा क्यों करते ? पर भला हुआ कि देर से क्यो न हो, समझ तो आ गई। झूठी बातों की आस में फँसे थे, मिथ्याभिमान से अनेक दोषों के पात्र हुए थे, मृत्यु की याद भूल गए थे, लोभ में बुद्धि को प्रवृत्त कर चुके थे, यहाँ तक कि शहद पर बैठी हुई मक्खी की-सी वह छूटने न पाती थी। परतु धीरे-धीरे आँखे खुल गई। भला हुआ, अन्यथा सारा संसार आप के नाम से चिल्लाता और रोता। ससार-समुद्र पर आप ने एक रूपक रचा है, जो कि कबीरदासजी के 'गुरु बिन कौन बतावे बाट' पदों के रूपक की याद दिलाता है। आप कहते हैं "यह भव-समुद्र बड़ा दुस्तर है। समझ नहीं पड़ता कि इस के पार कैसे जाऊँ ? काम, क्रोधादि जलचर बडे भयकर दीख रहे हैं। माया, ममता इत्यादि भौंरे पड़े हुए हैं। वासनाओं की लहरे उठ रही हैं और उद्योगो की हिलोरें बैठ रही हैं। इस को तरने की केवल एक ही युक्ति है, और वह है नाम रूपी नौका का आश्रय।"

चरित्र-विषयक परिच्छेदो में कहा जा चुका है कि काम-क्रोधादिकों पर आप ने कैसी विजय पाई थी। पर लोगों की दृष्टि से यद्यपि यह ठीक था, तथापि आत्म-निरीक्षण की दृष्टि से जब श्रीतुकाराम जी महाराज देखते, तब आपको मालूम होता कि ये शत्रु हृदय मे जीते ही थे, मरे नहीं थे। और तब तक आप का बोलना केवल ऊपर-ऊपर का ही था। विचार करने पर यही जान पड़ता कि न इद्रियो का दमन हुआ था, न उन के दमन करने की सामर्थ्य ही थी। सब शक्तियाँ क्षीण और कुठित हो गई थीं। खुद को फजूल ग़रूर हो गया था। पर असल में देखा जाय तो काम-क्रोध मन में राज्य ही कर रहे थे। केवल दूसरो को उपदेश करते थे, पर स्वय एक भी दोष से पूर्णतया दूर न हुए थे। इन को जीतने का एक ही मार्ग था। सबो का उपयोग ईश्वरप्रीत्यर्थ करने से ही इन का नाश होना शक्य था। जब हृदय ईश्वर से भर जाता, तभी इन्हे जीत लेना सभव था।

इसी लिए आप ने कहा है कि, "ये शत्रु थोड़ी देर तक चुप बैठते हैं, पर पूर्णतया नष्ट नहीं होते। ये विष-द्वार बडे दुस्तर हैं। अगर आप हे भगवन्, हृदय में पूरे-पूरे भर जाते, तो सभी विषय आप के स्वरूप में मिल जाते और मन निर्विषय हो जाता। ईश्वरकृपा हो गई, इस की गवाही मन देने लगता और खाली शब्द ही शब्द बंद पड़ जाते। ऐसी सूक्ष्म दृष्टि से देखने-वाले को ही आगे लिखा अनुभव हो सकता है। "नाम लेते ही मन शांत हो जाता है, जिह्वा से अमृत टपकने लगता है, और सब प्रकार के लाभों के शकुन होने लगते हैं। श्रीविट्ठल की कृपा होने से मन रँग जाता है, और ईश-चरणों पर स्थिर होता है। पेट भरा-सा जान पड़ता है। इच्छाएँ मर जाती हैं और तृप्त पुरुष की डकारों के-से तृप्ति के शब्द स्वभावतः निकलने लगते हैं। सुख सुख की भेंट करने आता है, मुख को तो मानो शब्दों की निधि मिल जाती है, और आनंद की सीमा ही नहीं रहती।

जब इतनी सूक्ष्म रीति से आत्म-निरीक्षण किया जाता है, अपना राई सा दोष भी पहाड़-सा नजर आता है और अपने सद्गुण नजर के सामने नहीं ठहरते, तभी असली अनुताप होता है, तभी जिस बात की लौ लगी हो, उस के लिए चित्त बिल्कुल अधीर हो उठता है और मुख से ऐसे शब्द निकलते हैं कि "भगवन् आप को बार-बार याद दिलाने के लिए कहता हूँ कि मेरा भाव कैसा है। जो दिन बीत गए वे फिर नहीं आते। आने-वाले दिनों की न कुछ सीमा है, न कुछ आशा है। गुणावगुणों के आघातों से दिल घबरा रहा है। तुम्हारा कुछ भी आसरा नजर न आने के कारण चित्त अधीर हो गया है। आग लगे इस अधीरता को! आप तो हो भगवान् और हम हैं बिल्कुल अधीर। ऐसी दीन स्थिति में कितने दिन ठहरे रहें? अब तो यहाँ से अनुभव के साथ मुझे छुड़ाना ही चाहिए। मैं अपने स्वभाव के कारण बिल्कुल थक गया। अब तो कृपा कर मुझे धीरज दीजिए। बडे प्रेम से गले लगा कर मेरे सब जलते हुए अंगों को शीतल कीजिए। अमृत की दृष्टि से मुझे देख मेरा घबराया हुआ जीव शांत कीजिए। मुझे उठा कर गोद में लीजिए और अपने पीतांबर से मेरा मुख पोंछिए। मेरी ठोड़ी पकड़ कर मुझे समझाइए। प्यारे पिता जी, अब तो तुकाराम पर इतनी कृपा अवश्य कीजिए।" ऐसी अनुताप भरी अधीरता के बाद परमात्मा दूर नहीं रहता। हृदय में निवास करनेवाला वह हृदयेश्वर चित्त को शांति देता है, सब इंद्रियों को तृप्त करता है, वासनाओं को नष्ट कर डालता है, काम-क्रोधादि को सुलाता है, सदिच्छाओं को जाग्रत करता है, दुनिया भर में आत्म-स्वरूप दिखलाता है और शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, शीतोष्ण इत्यादि द्वंद्वों को दूर तथा आत्मानंद में निमग्न कर देता है। धन्य हैं वे भगवद्भक्त जिन्हें इस प्रकार ईश्वर-स्वरूप की प्राप्ति हुई है तथा धन्य हैं वे लोग जिन्हें ऐसे भगवद्भक्तों के मुख से उन की अमृतमय वाणी सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। हम ऐसे जड़ जीवों को यद्यपि वह सौभाग्य न मिलता हो, तथापि वही अमृत हमारे लिए अद्यापि मौजूद है। पर फिर भी यहाँ न तुकाराम जी का मुख है न उन की भाषा। किंतु जब तक अर्थ वही है, तब तक शब्दों को महत्व नहीं। अमृत सोने की कटोरी से पीजिए, हाथ की प्याऊ से पीजिए या पत्ते के दोने से पीजिए। पीनेवाले को समान लाभ होता है।

एकादश परिच्छेद

आत्मानुभव

आँख और कान में चार अगुल का अतर होता है। पर यही अतर आँखो-देखी बात में और कानो सुनी बात में कई गुना बढ़ जाता है। कारण जिस वस्तु के देखने का अनुभव आँखो द्वारा होता है उस का कितना भी वर्णन कोई क्यो न करे, उस की यथार्थ कल्पना नही हो पाती। यह देखने के विषय में हुआ। यही बात उलटा कर कानों के विषय में भी कही जा सकती है। यथा किसी गाने की महफिल का चल-चित्र देखा जाय तो वह अनुभव तथा महफिल का दृश्य अपनी आँखो न देखे भी उस में का सगीत सुननेवाले का गान-विषयक अनुभव बिल्कुल भिन्न होगा। साराश यह कि जिस विषय का अनुभव जिस इद्रिय से आता है, वही इद्रिय उस का अनुभव करने में समर्थ होती है, दूसरी नहीं। और तो क्या, बोलने की और चखने की दोनो क्रियाएँ एक ही जीभ करती है। पर वही जीभ किसी मधुर चीज का आस्वाद ले कर उसी का वर्णन यदि करने लगे, तो वह भी उस काम में असमर्थ हो जाती है। इस का कारण यही है कि मन को प्राप्त हुआ अनुभव वाणी से व्यक्त नहीं हो सकता। इसी को लक्ष्य में रख कर गुसाई जी ने कहा है कि "गिरा अनयन नयन बिनु बानी" अर्थात् जिस में वर्णन करने की सामर्थ्य है वह वाणी देख नहीं सकती और जो नेत्र देख सकते हैं, उन के पास बोलने के लिए वाणी नहीं है। पर ऐसा होते हुए भी प्रत्यक्ष अनुभव ले कर उस का वर्णन करनेवाले और केवल सुनी-सुनाई या पढ़ी-पढाई अनुभूत बातों का बयान करनेवाले में बडा फर्क़ होता है। उदाहरणार्थ खाने के अनुभव की ही

बात लीजिए। मान लीजिए, एक भूखा आदमी केवल पुस्तकें पढ कर या पेट भरे लोगों की बातें सुन कर पेट भर खाने के सुख का वर्णन कर रहा है। वह कितना भी विद्वान क्यों न हो, उस की वर्णना-शक्ति कैसी भी जबरदस्त क्यों न हो, पर उस के इस अनुभूत वर्णन की अपेक्षा, पेट भर खा कर अफरे हुए आदमी की केवल एक डकार, उस सुख की कल्पना श्रोताओं को अधिक दे सकती है। अनुभव की बात कुछ और है। श्रीसमर्थ रामदास स्वामी जी की भाषा में कहा जाय तो 'सिवाय अनुभव के बोलना ऐसा है, मानो कुत्ता मुँह फाड़ भूँकता है।' अनुभवी मनुष्य की आवश्यकता संसार को इसी लिए अधिक है। उस की एक नजर, उस का एक स्पर्श, उस का एक शब्द पृष्ठ-भर उपदेश से अधिक कीमत का है। श्रीतुकाराम जी महाराज के स्वानुभूतिपर उद्‌गारों का इसी में महत्व है कि ब्रह्मानंद की कल्पना का उद्‌गार वे बहुत थोड़े शब्दों में पाठकों के प्रति भली-भाँति कर देते हैं।

कल्पना कीजिए कि एक बड़ा बीमार आदमी है। बीमारी से बेचारा कँदरा गया है और कई दवाइयाँ करके थक गया है। दैववश कहिए या उस के उद्योगवश कहिए, उसे एक ऐसा रसायन मिल गया कि उस की काया नीरोग हो गई, बीमारी जाती रही, फिर से आरोग्य मिल गया। ऐसी स्थिति में कोई भी कल्पना कर सकता है कि उस के मुख से किन विचारों का सब से अधिक उच्चार होगा। सब से पहले तो वह बड़ी ख़ुशी मनावेगा और फिर अपनी नीरोगता का वर्णन करेगा। वह दवाई कहाँ से और कैसे मिली, उसे तैयार कैसे किया, अनुपान क्या था, पथ्य क्या किया, इत्यादि बातें यदि वह बार-बार कहे, तो आश्चर्य ही क्या है? मामूली रोगी पुरुष की यदि यह बात हो भवरोग-सी बीमारी, श्रीतुकाराम जी-सा मरीज, श्रीविट्ठल-नाम का रसायन और ब्रह्मानंद-रूपी आरोग्य की प्राप्ति—तो इस के विषय में कहना ही क्या है? इस रसायन का वर्णन करते हुए महाराज कहते हैं "प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के भागों को अटा कर यह उत्तम रसायन बनाया। ज्ञानाग्नि पर उसे खूब आँच दे कर कड़कड़ाया। जब ब्रह्म में उस का रस पूरा-पूरा मिल गया, तो प्रतीति-रूपी मुख से उस का सेवन किया। बड़ी साधना से हर एक खूराक के साथ उस का ध्यान रक्खा। तब वह रस सब शरीर में समरस हो गया। सब काया सुख से भर गई। अब तो तुकाराम के आठों अंगों को आरोग्य-प्राप्ति हो गई। अब तो वह आत्म रंग में रँग गया।" इस रंग में रँगे जाने की देह-स्थिति भी आपने क्या अच्छे प्रकार से बखानी है? आप कहते हैं "हृदयस्थ निशानी पहचान कर चित्तवृत्ति स्थिर हो गई। प्राण-वायु लँगड़ा गिर पड़ा। अधखुले नेत्र तेज से चमचमाने लगे। गला भर आया। शरीर भर में रोंगटे खड़े हो गए। मन तो निज रूप से ऐसा लिपट गया कि कहीं बाहर आना-जाना ही भूल गया। जिधर देखो उधर नील-वर्ण का प्रकाश दीखने लगा। जिह्वा को अमृतपान होने लगा। आनंद पर आनंद की हिलोरें आने लगीं और प्रेम से डोलता हुआ तुकाराम अब निश्चय-पूर्वक परमात्मा में लीन हो गया।" "श्रीपाण्डुरंग की कृपा से सब संदेह और बुद्धि-भेद दूर हो गए। अब तो जीवशिव की शय्या आनंद से सजाई गई। तुकाराम ने उस पर आरोहण भी किया। अब उसे निज-रूप की नींद लग गई और अनाहत ध्वनि के गीत

उस की नींद न खुलने के हेतु गाए जाने लगे।" "अब तो जिधर देखो उधर प्रेम का सुकाल हो गया है। रात-दिन प्रेम का सुख लूट रहे हैं। सब दुःखों से छुटकारा पा कर सब प्रकार के श्रम दूर हो गए। इस दुनिया मे अब तेरा मेरा भाव नष्ट हो गया। अब पाडुरग ही पाडुरग रह गया। सब अलकारो से अब हम सज गए और सबो से अधिक सुहावने दीखने लगे। अब तो तुकाराम ऐसे सुदैवी का दास बन गया है कि उसे किसी और की आस नहीं रही।" "अब तो प्यास प्यास को पी गई और भूख को भूख ने खा डाला। श्रीविठ्ठल ने ऐसी तलाशी ली कि जहाँ का तहाँ नहीं हो पाया। वासना को अब वासना ही नही बची और चचल मन तो श्रीविठ्ठल के चरणो पर पगु हो कर गिर पड़ा। जीव की भूल जीव ने पहचान ली। यदि अब कुछ बाक़ी बचा है तो वह है एकाकी तुकाराम।"

यह भव रोग क्या है ? इस जगत् मे जितनी चीजों का इद्रियो को ज्ञान होता है, उन के नाम और रूप को छोड़ उन का अतर्गत तत्व न पहचानने से मनुष्य माया के फेर मे पड़ता है और यह मेरा यह तेरा इस प्रकार का भेद-भाव धारण करता है। बस, यही भव-रोग है। यदि यह सत्य हो, तो जिस रसायन का तुकाराम जी ने वर्णन किया वह और कुछ न हो कर सृष्टिगत सब पदार्थों का मूल-तत्व और स्वय अपने देह मे प्राप्त मूल-तत्व को पहचानना और दोनो मे 'भेद नहीं, अभेद' जानना ही है। इसी को सर्वात्मकता कहते हैं। चर, अचर, सब वस्तुओं मे एक ही तत्व भरा हुआ है। हमारी भ्रम-बुद्धि द्वैत-भाव निर्माण करती है जो असली वस्तु का ज्ञान होते ही नष्ट हो जाती है। इस प्रकार का वर्णन तुकाराम जी के स्वानुभूतिपर उद्गारो में कई बार आया है। आप कहते हैं "किसी सर्वज्ञ ने हाथ में रस्सी ले कर किसी अज्ञानी पुरुष को डराया कि वह साँप है। पहले तो वह डर गया। पर असली बात यानी डोरी का ज्ञान होते ही दोनों को भी डोरी एक-सी ही ज्ञात होने लगी। हे हरे, तुम हम मे भी इसी प्रकार का भेद पड गया था। मृगजल की बाढ में मैं अपने को बहता समझ उस बाढ को पार करने की कोशिश कर रहा था। गले की हँसुली, हाथ का कडा और सिर का फूल, ये तो सब अलकारो के नाम-भेद हैं। पर यदि ये सब अलकार गलाए जावे तो इन का नाम दूर हो कर यह सब एक ही सोने के रूप में आवेंगे। बाजीगर जैसे पर का कबूतर कर दिखलाता है, उस तरह तुकाराम को तो कृपा कर न भुलाइए।" "मिश्री और चीनी केवल नाम और रूप मे ही भिन्न हैं। पर मिठास की दृष्टि से देखा जाय तो दोनों में क्या फेर है ? इसी प्रकार हे पाडुरग, तुम मे और हम में क्या फर्क है ? फिर 'यह मैं', 'यह मेरा' इत्यादि प्रकार से दुनिया को क्यो फँसाऊँ ? पैर, हाथ, नाक और सिर मे एक ही सोना अलग-अलग गहनो के नाम और रूप से पहना जाता है। पर आँच में गलाने के बाद उन मे क्या भेद रह जाता है ? जब तक आदमी सोते-सोते सपना देख रहा है, तभी तक उस स्वप्न के लाभ-हानि से वह खुशी मनाता है या सिर पीट कर रोता है। पूर्णतया जाग जाने पर दोनो बातो का सुख-दुःख एकदम दूर हो जाता है। "यही जाननेवाला पुरुष पडित है और कोई भी यदि अहंकार दूर कर विचार करे, तो उसे यह ज्ञान सहज मे हो सकता है। जब सभी लोग आत्म-स्वरूप मे दीखने लगते हैं, तो उन के गुणो या दोषो की ओर दृष्टि जाती ही नही। नाले का पानी समुद्र में मिल जाने पर अब

उस में नाले के गुण-दोष कहाँ रहे ? वह तो अब समुद्र-रूप ही रहेगा। उसी प्रकार तुकाराम महाराज के मन का भेद नष्ट हो जाने पर फिर दुःख कहाँ से बचा ? जिधर देखो उधर उन के लिए सुख ही सुख हो गया।

इस प्रकार की सर्वात्मता मन में दृढ होने के बाद यदि उपासना मे कुछ अर्थ बाह्यदृष्टि से न रहे तो कुछ आश्चर्य नही है। फलवाले पेड़ के फूल का महत्व तभी तक है, जब तक उस फूल का रूपातर फल में नही हुआ। फल दृश्य होते ही फूल अदृश्य होने का दुःख नहीं होता। उसी प्रकार जब सर्वात्मकता-पूर्ण ज्ञान हो गया, तब फिर पूजन करने वाला पूजक, पूजन के साधन और जिस का पूजन करना हो वह पूज्य परमेश्वर तीनों बाते एक ही हो जाती हैं। फिर तो ऐसा जान पडता है कि किस की उपासना करूँ और करूँ भी तो उस मे मेरा क्या है ? तुकाराम महाराज पूछते हैं, "हे केशवराज, मेरा यह तो सदेह अब मिटा दो कि आप का पूजन कैसे करूँ ? अगर जल से तुझे नहलाऊँ, तो जल तुम्हारा ही स्वरूप होने के कारण उस मे विशेष क्या है ? चदन की सुगध और सुमनो का सुबास तुम्हारा ही होने के कारण, मैं दीन अब आप पर क्या चढ़ाऊँ ? दक्षिणा दूँ तो धातु भी नारायण-स्वरूप है और नैवेद्य समर्पण करूँ तो अन्न तो साक्षात् परब्रह्म ही है। अगर भजन करूँ, तो सब शब्द ॐकार रूपी नाद ब्रह्म ही हैं और आप से सब पृथ्वी भरी होने के कारण नाचने को भी खाली स्थान नही। फलदाता तो तुम्ही हो, ताबूल, दक्षिणा भी तुम्ही हो, तो अब बतलाइए कि आप का पूजन कैसे करूँ ?" और एक अभग मे आप कहते हैं "अब तो मै न पाप मानता हूँ न पुण्य, न सुख या न दुःख। हानि-लाभ की मेरी सब कल्पनाएँ नष्ट हो गई। जिदा रहते भी मैं मर गया। मेरा आप-पराया भाव नष्ट हो गया। संसार का मूल उच्छिन्न हुआ। अब तो जात, अधिकार, वर्ण, धर्म किसी का भी ठिकाना न बचा। सच-झूठ, जन बन, अचेत-सचेत इत्यादि द्वैतो के लिए स्थान ही न रहा। सब देह श्रीविट्ठल के चरणो पर जब मैंने समर्पण किया, तभी मेरी सब प्रकार की पूजा पूरी हो चुकी" "अब तो कुछ काम ही न होने से मैं पूर्णतया निष्काम हो चुका। अब तो आग्रह-पूर्वक कोई काम न कर निश्चल बैठ जो बने वही काम करूँगा। कुछ न कुछ छद ले कर दुनिया बड़े मजे से दुःख करती है। इस लिए तुकाराम अब दुनिया से अलग हो कर बिल्कुल अकेला रहा है।" "बस इस नामरूप की उपाधि का जितना दाग लगा उतना बहुत है। अब ज्यादा दुःख अपने पास न आने देंगे। फिर-फिर से कीचड़ में हाथ भरना और धोना किस काम का ? यह कहना तो चलते हुए मार्ग मे विघ्न डालना है। ईश्वर ने क्या नहीं कर रक्खा ? वह सब तो अपने ही पास है। तुकाराम का अहकार जाते ही उस की आप पर भावना नष्ट हो गई।" यह स्थिति यहाँ तक पहुँची कि अत में आप कहने लगे कि "अब तो दिवाला निकल गया और देव का काला हो गया। अब कुछ बोलने का काम ही नहीं। मन का मन में विचारना ही विचारना है। सब बोरियाँ समेट कर दूकान बढा दिया है और भीतर बत्ती जला दी है। अब तो घर के घर मे ही हिसाब करता हुआ तुकाराम बैठा रहेगा।" देह-रूपी घर छोड़ अब बाहर ईश्वर ढूँढने की जरूरत ही न रही। अब आप लोगों से भी उपदेश करने लगे कि "घर मे तो देव है और अभागा फ़जूल घूम रहा है।

देव को मन मे देखता नहीं, घूम-घूम कर तीरथ के गाँवो मे उसे ढूँढ रहा है। मृग की नाभि मे तो कस्तूरी रहती है, पर उस के सुवास की खोज में वह बन-बन मारा फिरता है। जैसे शक्कर का मूल ईख, वैसे ही देव का मूल देह। दूध में ही मक्खन है, पर लोग उसे मथना नही जानते। तुकाराम तो अज्ञ लोगों मे यही कहता है कि इस मथने की क्रिया को जानो और देह मे ही देव को पहचानो।"

यह मथन-विधि सहज तो है नही ? गन्ने की शक्कर बनाना आसान नहीं है। पर हाँ यदि कोई प्रयत्न करे तो यह बात शक्य तथा सुसाध्य है। इस के लिए द्वैत-बुद्धि का नाश होना चाहिए। देह, बुद्धि, तथा ससार की लालसाएँ साफ छूट जानी चाहिए। ससार छोड़ने की आवश्यकता नही, पर उस की आस, उस का मोह, उस विषय का आग्रह छूट जाना चाहिए। अगर मनुष्य को डर रहता है तो केवल इस देह-दुःख का तथा इस देह से सबद्ध अन्य जनो के दुःखों का, इस लिए प्रथम देह-बुद्धि का नाश करना चाहिए। इसी लिए "हाथ में लाठी ले कर तुकाराम देह के पीछे पडे। जहाँ आदमी जलाए जाते हैं, ऐसे मसान मे भी उसे ले जा कर सुलाया। जितने सुखो का उस ने उपभोग कर लिया था, उन सबों का बदला निकाला। यह समझा कि सुख-दुःख भोगनेवाला परमेश्वर है, और इसी समझ को दृढ कर डर को अपने पास तक फटकने न दिया। इस प्रकार दिव्य कर मन को जब दृढ किया तभी सच अनुभव की प्राप्ति हुई।" "अगर यह द्वैत बुद्धि नष्ट हो, तो बाकी सब हरि ही हरि बचा है। फिर उसे ढूँढने के लिए कहीं अपने से बाहर जाने की आवश्यकता नही है। पर यह जानने के लिए मन से ही मन को बंद कर डालना चाहिए। जानकार शिकारी शिकार की पहचान कर के ही शिकार करता है। पहले तो इस बात का विचार मन ही मन में करना चाहिए कि यह देह सच है या मिथ्या। जहाँ देह ही सच नहीं वहाँ देह-सबंध के कारण फैला हुआ ससार भी सच नहीं है। यह तो किसी चोर को डराने के लिए खड़ी की हुई आकृति का-सा है जिसे वह रखवाला समझ रहा है। इस लिए तुकाराम लोगो को जता कर कहते हैं कि फजूल न टटोलो। तुम्हारे शरीर मे ही परमेश्वर है। ज़रा आँखे खोल कर देखो।" जब एक बार आँखे खुल गईं और देह तथा ससार का मिथ्यात्व मन में दृढ भाव से जम गया तो फिर बध्या स्त्री की सतति-सी मिथ्या ससार-कल्पना बाधा नहीं दे सकती। फिर तो यह बात ऐसी असभव है जैसे सूर्य-बिंब मे अँधेरा होना या मृग-जल से आकाश का भीग जाना। पूर्ण प्रकाश का सुख भोगनेवाले उस पुरुष के सम्मुख दृश्य वस्तुओ का आभास ज़रा भी नही ठहर सकता। उस चैतन्य-स्वरूप पुरुष को भोग, भोग्य और भोक्ता की त्रिपुटी भी नही सता सकती। तुकाराम के भी इसी ब्रह्मानद में मग्न हो जाने के कारण उस की आँखो को अब ससार का ढचरा दिखता नहीं है।"

जब इस प्रकार देह-बुद्धि छूट जाती है, प्रपच मिथ्या जान पड़ता है, तब मनुष्य स्वाभाविकतया बेफिक्र बन जाता है। फिर यदि किसी चीज का नाश भी हो जाय तो उस की उसे कुछ परवाह नहीं रहती। जो वस्तु गई वह कृष्णार्पण हुई, यही उस की भावना हो जाती है। इसी को वह सहज सेवा समझता है। जो होना है वह होता ही है। लाभ या हानि मनुष्य अपने सकल्प से मानता है। पर जब उस का मन सकल्पविकल्प-हीन हो जाता

है, तो उस के लिए सभी बातें पुण्यकारक होती है। कोई उसे मारता है या कोई उस की निंदा करता है। कोई उस का पूजन करता है तो कोई उस का सन्मान करता है। परंतु वह अपने को दोनो बातो से अलग ही समझता है। उस के लिए दोनों बाते एक-सी ही है। उस की तो कल्पना रहती है कि जो कुछ होता है, देह-भोग के कारण ही होता है। और इसी लिए जो कुछ भी होता है, उसी को वह अच्छा समझता है। उस की कल्पना से तो सभी देह-भोग की बाते कृष्णार्पण ही होती है। फिर दुनिया भर मे उसे कोई दुर्जन ही नहीं दिखता। सभी उसे मा-बाप से ही जान पड़ते है। वह न किसी प्रकार की चिंता करता है न मन मे भय धरता है। न किसी बात की उसे अभिलाषा रहती है न किसी बात के लिए वह तरसता है। दुनिया भर से वह ख़ुश रहता है और दुनिया भी फिर उसे निबाहती है। जनता में वास करनेवाला जनार्दन उसे सँभालता है। इसी स्थिति को पहुँच कर तुकाराम जी ने कहा है कि "मेरे खुद के वेश की ही जहाँ मुझे फिक्र नहीं वहाँ दूसरो के विषय मे मैं कहाँ तक फिक्र करूँ? जो लोग मान-सन्मान की इच्छा करते हैं, वे चाहे तो ईश्वर के पास इन बातो की याचना करें और अपने संचित कर्म मे लिपटे रहे। हम तो अपने देह को भोग के अधीन कर मानापमान की मिथ्या कल्पना से निराले हो चुके है। इसी लिए फ़ज़ूल बकबक कर व्यर्थ श्रम करने की कुछ आवश्यकता नही।" इस प्रकार बरतते-बरतते "भोग में ही त्याग हो जाता है और पांडुरंग का गान करते-करते इंद्रियो का जोर हम पर से छूट जाता है। जब सब भार श्रीविठ्ठल पर ही डाला जाता है, तो चित्तवृत्ति निश्चल हो जाती है और भय, चिंता सब दूर होती हैं। जिस प्रकार चिड़िया का बच्चा मा के पंखों के नीचे दबा हुआ बैठता है, और अपनी चोंच या नखो मे मा के पास से चारा पाता है और मा उस के लिए दाना ला कर उसे चराती है, उसी प्रकार तुकाराम श्रीविठ्ठल के चरणों पर गिर उसी के भरोसे पड़ा है।" इसी विश्वास मे आप की दृढ श्रद्धा थी कि 'श्रीविठ्ठल स्वयं सब प्रकार के दुःख सहन कर उत्तमोत्तम वस्तु ही हमे सुख से देंगे। वे हमारे पास से कभी दूर न बैठेंगे या कहीं अन्यत्र न जावेंगे। आगे पीछे रक्षण करते हुए जो कुछ घात-पात हम पर पड़े उन से हमारा रक्षण करेंगे। हम कहीं क्यों न रहें, हमें शंका न रहेगी क्योंकि हमारा द्वैताद्वैत भाव नष्ट हो गया है। श्रीविठ्ठल ने अब तो तुकाराम का ऐसा भार उठाया है कि बाहर-भीतर जहाँ देखो वहां विठ्ठल ही विठ्ठल भरा हुआ है।" यही कारण था कि जब-जब आप के हितचिंतक आप की कुछ चिंता करते, तब-तब आप बड़ी दृढता से कहते कि "मेरे विषय में अब आप कुछ चिंता न करो। जिस ने यह स्थिति निर्माण की है वही उसे सँभालनेवाला है। मेरी इच्छा से क्या होनेवाला है? जो कुछ होना होगा वह होगा ही। तुकाराम तो सुख-दुःख दोनो से अलग है।"

इस बेफिक्री से मनुष्य उद्धत नहीं होता। उलटा विनम्र होता जाता है। जनता-स्वरूपी जनार्दन मे श्रद्धा उत्पन्न हो जाने पर और उसी पर विश्वास डालने पर मनुष्य बड़ा लीन होता है, पर उस लीनता मे उस का कोई नाश नहीं कर सकता। वह बड़ी निर्भयता से रहता है। तुकाराम जी कहते हैं "जब आग मे धातु पड़ती है, तो पिघल कर उसी में लीन हो जाती है। वह स्वयं शुद्ध होती है और उस का नाश भी कोई नहीं कर

सकता। पट में बुने हुए ततुओं के अनुसार वह धातु आग में ही मिली रहती है। गर्व, ऐंठ इत्यादि बातें बाहरी रग की है। ये सब मिथ्या हैं और बाहरी बातों की-सी मृत्यु के साथ नष्ट हो जाती हैं। नदी में जब बाढ आती है तब जहाँ बडे-बडे पेड उखाड़ कर फेंक दिए जाते हैं, ऐसी लहरों में भी लवे का घोसला मजे से रहता है। नदी का पूर उसे उखाड़ नहीं सकता। जो हाथी शत्रु-सैन्य को कुचल डालता है उसी के पेर-तले चींटी नहीं मरती। वहाँ उस का रक्षण कौन करता है? लोहे के घन से हीरे पर चोट मारी जावे तो वह लोहे में घुस कर खुद को बचा लेता है पर बडे-बडे कडे पत्थर ऐसे बच नहीं सकते। इस लिए तुकाराम का कहना है कि लीनता ही सब बातों में सार है, और खास कर भवसागर पार उतारने में वही समर्थ है। सिर पर बड़प्पन का भार लेनेवाले डूब मरने के ही लायक हैं।" माया और ब्रह्म के झगडे में माया से छुटकारा पाना हो, तो लीनता के सिवा और कोई अच्छी तरकीब नहीं है। ब्रह्म और माया एक-दूसरे से ऐसे सबद्ध हैं जैसे शरीर और छाया। छाया शरीर को छोड कर नहा रह सकती। तोड कर उसे शरीर से अलग करना भी असभव है। पर यदि शरीर जमीन पर नम्र हो कर दडवत गिर पडे तो छाया उसी में लीन हो जाती है। इसी प्रकार ससाररूपी परमेश्वर में लीन होने ही भेद-भाव की माया सहज में दूर होती है। ऐसे लीन पुरुष को फिर भय काहे का? तुकाराम जी ने कहा है कि "भय को तो अब हमारे चित्त में स्थान ही नहीं। जी-जान से आत्म-समर्पण करने पर डरने का क्या कारण है? अब तो हम जो-जो करेंगे वही ठीक है। दिन काटने के लिए कुछ न कुछ करते ही रहेंगे और जीवन का काम पूरा करेंगे।

श्रीतुकाराम जी महाराज के स्वानुभूतिपर उद्गारों में जो कहीं-कहीं अभिमानावेश दीखता है वह इसी निर्भीकता पर निर्भर है। सर्वात्मकता के कारण ससार से एक रूप हो द्वैत-भाव में जो मुक्त हो गया उस के लिए काल भयानक नहीं है। काल जगत को दो स्वरूपों में डराता है। एक तो परिस्थिति के रूप में जिसे सत लोग कलिकाल कहते हैं। दूसरा मृत्यु के रूप में। परतु ये दोनों रूप श्रीतुकाराम जी के-से मुक्त पुरुष को डरा नहीं सकते। आप ने तो साफ-साफ कह दिया कि "काल जगत को खाता है, पर हम लोग उस के भी सिर पर पैर रखते हैं। हमारा नाच देख कर वह ठहर जाता है और हमें डराने के बजाय हमें सतुष्ट ही करता है। जगत को खाते-खाते उस की जो भूख शात नहीं होती वही हरि के गुण सुन कर तृप्त हो जाती है। और उस की सतप्त वृत्ति धीरे-धीरे शीतल हो जाती है।" पाप-पुण्य के विषय में आप के उद्गार सुनिए। आप कहते हैं "हम विष्णुदास दुनिया में ऐसे पटे के हाथ फिराते हैं कि न पाप हमारे शरीर को स्पर्श कर सकता है न पुण्य। सदा-सर्वदा हम निर्भय रहते हैं, क्यों कि ईश्वर ने ही हमारा सब भार उठाया है। जिस सर्व-शक्तिमान ईश्वर ने कलिकाल को निर्माण किया, उसी के अकित होने के कारण हमें उसी का बल है। हम तो ऐसे जबरदस्त हैं कि ईश्वर के अतिरिक्त हमें दुनिया में कुछ दीखता ही नहीं।" "कैसे आनद से इधर-उधर बाजे बज रहे हैं, क्यों कि अहंकार को जीत और उस का सिर काट हम ने उसे अपने पैरों तले कुचल डाला है। जहाँ काल का ही कुछ चलता नहीं वहाँ दूसरों की बात ही क्या? अब बैकुठ को जाना कुछ कठिन नहीं है।" ऐसी प्रबल

भावना रखनेवाले पुरुष के ही मुख से निम्नलिखित उद्‌गार निकल सकते हैं। "अब तो मजबूती के साथ कमर बाँध कर कलिकाल का सामना कर चुका हूँ। भवसागर के ऊपर पैरों पार करने के हेतु पुल बना डाला है। आओ, छोटे-मोटे नर या नारियो, आओ। कुछ फिक्र न करो कि तुम किस जाति के हो। यहाँ तो न किसी प्रकार का विचार करने का कारण है, न किसी तरह की चिंता। जप, तप, करनेवाले लोग व्यर्थ के कामों में लगे रहते हैं। परंतु यहाँ तो मुक्त या मुमुक्षु दोनों प्रकार के लोगों को आम इजाजत मिली हुई है। नाम का पूरा बिल्ला ईश्वर ने यहाँ भेजा है और उसी बिल्ले को धारण करनेवाला यह तुकाराम यहाँ आ कर आप को पुकार रहा है।"

इन उद्‌गारों से पाठकों को श्रीतुकाराम जी महाराज के विषय में यह बात स्पष्ट हो जावेगी कि जिस साधन से उन्हों ने इतनी उन्नतावस्था प्राप्त कर ली, उस साधन को उन्हों ने अखीर तक न छोड़ा। उपासना के स्वरूप में शिथिलता आते हुए भी नाम-स्मरण तथा ईश-भक्ति के विषय में आप अटल ही बने रहे। देव और भक्त एक रूप होते हुए भी भक्त अपने आनंद के लिए अपने को भक्त-स्वरूप में ही समझता है, और परमेश्वर का नाम स्मरण करता ही रहता है। जो लोग देव-भक्त की एकता का ज्ञान होने पर नाम-स्मरणादि साधनों को मिथ्या समझते हैं, उन को मिथ्या ठहराने के हेतु श्रीतुकाराम जी ने मिथ्यात्व का भी मिथ्यात्व दिखलाते हुए यों उत्तर दिया है। आप कहते हैं कि यद्यपि हँसना, रोना, गाना, नाचना, भजन करना सब झूठ है, मेरा-तेरा समझ कर अभिमान का बोझ उठाना झूठ है, भोगी, त्यागी, जोगी सभी झूठ हैं, तथापि झूठा तुकाराम झूठे परमेश्वर की झूठी स्तुति करने में भी झूठा आनंद उठाता है। अर्थात् जो लोग इसे झूठ समझते हैं, उन्हें इस झूठे भजन के लिए तुकाराम पर झूठा आक्षेप करने का क्या कारण है? इस नाम-स्मरण के आनंद की आप को ऐसी चाट लगी थी कि आप उस से कभी अघाते ही नहीं थे। आप कहते, "खाई चीजें ही खाने के लिए जैसे जी ललचाता है, मिले हुए प्रेमी जन से फिर-फिर मिलने के लिए जैसे जी तड़पता है, वैसे ही श्रीपांडुरंग के विषय में तृप्ति नहीं मिलती। जितनी ही उस आनंद की प्राप्ति होती रहती है, उतनी ही अभिलाषा बढ़ती जाती है। इंद्रियों का सुखोपभोग-सामर्थ्य थक जाता है, पर फिर भी मन की भूख ज्यों की त्यों बनी रहती है।" आप समझते थे कि जब सारा जीव नारायण को समर्पण किया है तो जितनी शक्तियाँ मनुष्य के पास हों, उतनी शक्तियों से उसी श्रीपति की सेवा करनी चाहिए। आप स्वयं जैसे इस काम में आनंद मानते थे, वैसे ही आप समझते थे कि ईश्वर को भी इस में आनंद मिलता है। और तो क्या संसार-निर्माण करने का कारण भी आप यही समझते थे। मनुष्य इस बात को ख़ूब अच्छी तरह से जानता है कि दर्पण का रूप मिथ्या है। पर जैसे इस बात को ख़ूब जानते हुए भी दर्पण में अपना रूप देखने से उसे संतोष होता है, वैसे ही आप का मत है कि ईश्वर ने भी अपना ही स्वरूप देखने के लिए इस जगत को निर्माण किया। बच्चा जिस प्रकार एक ही काठ के बने हुए बाघ और गाय के साथ भिन्न भाव मान कर खेलता है, उसी प्रकार ईश्वर और भक्त एक रूप होते भी आप को ईश्वर भक्ति करने में आनंद आया करता। और इसी आनंद-प्राप्ति के लिए आप

अनेक प्रकारों से उस परमेश्वर की सेवा करते थे। आप के मतानुसार मुक्त पुरुष वही है, जो बंधन से मुक्त हो कर भी आनंद से ईश्वर-भक्ति करता है। अभिनिवेश को छोड़ कर काम करना ही आप ईश्वर का सहज पूजन समझते थे। इसी लिए आप जो दूसरों को उपदेश करते, उस के भी विषय में आप की यही धारणा थी कि "प्राणिमात्र के अंतर्याम में निवास करनेवाला श्रीहरि ही मेरे मुख से मुझे बुला रहा है। मैं तो केवल इतना ही जानता हूँ कि किसी भूत का द्वेष या मत्सर न करना चाहिए। और इसी विचार से तुकाराम समझता है कि लोगों को हित की बातें सिखाने में कुछ दोष नहीं है।" वास्तव में ऐसे ही पुरुष उपदेश देने के अधिकारी होते हैं और यदि लोगों पर उपदेश का कुछ असर पड़ता है, तो इन्हीं अधिकारी पुरुषों के किए हुए उपदेश का परिणाम होता है।

लोगों के लिए श्रीतुकाराम जी महाराज ने जो हितकर उपदेश किया है, उस का विचार अग्रिम परिच्छेद में किया जावेगा। यहाँ पर आप के स्वानुभूतिपर उद्‌गारों का विचार करते समय आप ने ईश्वर के पास जो वर-याचना की है, उसी का उल्लेख कर इस परिच्छेद को समाप्त करें। इस संसार में रहते हुए आप ने ईश्वर से यही माँगा है कि "महाराज, कृपा कर के अपनी प्रीति की पहचान दे कर मेरे मन को अनजान कर दो। फिर तो मैं संसार में ऐसे रहूँगा जैसे जल में कमल का पत्ता। निंदा-स्तुति इत्यादि सुन कर भी न सुनूँगा और योगिराज का-सा उन्मनावस्था का अनुभव लेते हुए आनंद से रहूँगा। स्वप्न से जगा हुआ आदमी जैसे स्वप्न-सृष्टि को नहीं देखता, वैसे ही यह प्रपञ्च मेरी दृष्टि को दिखते हुए भी न दिखे। जब तक ऐसा न हुआ, तब तक जो कुछ कर रहा हूँ, सब तकलीफ ही तकलीफ़ है।" परमात्मा ने श्रीतुकाराम जी को तो यह वर प्रदान किया। पाठकों को भी वह यही वर प्रदान करे!

द्वादश परिच्छेद

सदुपदेश

जैसी बानी वैसी करनी—श्रद्धा उस पर जड़ती है।
क्रियाशून्य वाचाल विषय में जमी हुई भी उड़ती है॥
जैसा कहता वैसा चलता—लोग उसे आदरते हैं।
ऐसे ही उपदेशक को जन सभी एक से डरते हैं॥

यदि दुनिया में सब से सहल कोई काम हो तो वह है दूसरों को उपदेश करना। कोई भी इस बात को ध्यान में नहीं रखता कि उपदेश करने के लिए किसी विशेष सामर्थ्य या अधिकार की आवश्यकता है। जीभ उठाई और लोगों से कहने लगे, 'यों करो, यों करना चाहिए, यों न करना चाहिए इत्यादि।' हर एक मनुष्य अपने तई खुद को दूसरों का उपदेशक होने योग्य समझता ही है। उपदेश के समय वह इस बात का बिल्कुल विचार नहीं करता कि वह स्वयं क्या करता है या कर रहा है। जो बातें वह दूसरों को सिखाता है, उन का वह स्वयं आचरण तो करता ही नहीं, वरन् बहुधा उस के बिल्कुल विरुद्ध उस का आचरण होता रहता है। आज जिधर देखो उधर ऐसे हजारों उपदेशक मिलेंगे जो स्वयं असत्य बोलते हुए सत्य की महत्ता समझाने की चेष्टा करेंगे, स्वयं सब प्रकार से इंद्रिय-सुखों में लोट-पोट रह कर दूसरों को इंद्रिय-सुख का त्याग करने का पाठ सिखावेंगे। हमारा समाज ऐसे वाक्पंडितों से भरा हुआ है, और जहाँ देखो वहाँ उपदेश-वाक्य बराबर कानों में गूँजते ही रहते हैं। पर इस सब का परिणाम क्या

होता है ? इतने उपदेशकों के उपदेश करने में कटिबद्ध रहते हुए भी हम जहाँ के तहाँ और ज्यों-के त्यों हैं। इस का कारण केवल यही है कि उपदेशकों का काम अयोग्य लोगों के हाथों में पड़ा है। लोगों की निंदा करना, उन के दोष दिखलाना बड़ा आसान है। पर अंतर्मुख दृष्टि रख कर उन्हीं कामों के विषय में अपने पैरों तले क्या जलता है, इसे पहचानना बड़ा कठिन है। श्रीतुकाराम जी महाराज इस प्रकार के उपदेशक न थे। उन की वाणी में अनुभव का तेज रहने के कारण वह बड़ी ओजस्विनी थी और उस का श्रोतृगणों पर प्रभाव भी खूब पड़ता था। स्वयं अनेक कष्ट सहन करने के कारण उन के सच्चरित्र के विषय में लोगों को पूरी-पूरी दिलजमई हो चुकी थी। लोगों का दृढ़ विश्वास हो गया था कि आप जो कुछ कहते, सचमुच लोगों के ही हित का होता और उसे कहने में लोगों के हित को छोड़ आप का कुछ भी स्वार्थ न था। श्रीतुकाराम जी महाराज के स्वयं सब प्रकार के स्वार्थ से उच्चतम पद पर पहुँचे रहने के कारण उन के व्यक्ति-विषयक स्वार्थ की किसी को शंका भी न होती थी। लोग जान चुके थे कि केवल उन्हीं के हित के लिए आप का जीव टूट रहा था और यही कारण था कि लोग आप की बड़ी कड़ी-कड़ी फटकारें भी शांति से सुन लेते थे। आप के मन में किसी के प्रति द्वेषबुद्धि न रहने से आप के शब्दों की मार किसी व्यक्ति या जाति पर न पड़ कर हमेशा व्यक्तिगत या जातिगत दोषों पर पड़ती थी। आप साफ़-साफ कहते थे कि "मेरे बोलने पर कोई कृपा कर क्रोध न करो। मैं जो कुछ कहता हूँ, वह अनेक लोगों के हित के लिए है, और इसी लिए आप उसे शुद्ध-चित्त से सुनें। मैं किसी व्यक्ति की निंदा नहीं करता हूँ, केवल बुरी बातों के दोष दिखलाता हूँ। सबों के हित के अतिरिक्त मुझे लाभ ही क्या है ?" आप का यह वचन लोगों को भलीभाँति समझ में आ चुका था और इसी लिए आप के मुख से सदुपदेश सुनने के लिए लोग बड़ी दूर-दूर से दौड़े आते थे। इस संसार में इंद्रियों पर विजयी सब सांसारिक सुखों की ओर से विरक्त और पहले कर के पीछे उपदेश देनेवाला महात्मा कच्चित् ही मिलता है। परोपकारी जाग्रत पुरुष का हृदय नींद में पड़े हुए अन्य दुःखी लोगों को देख दुखी होता है, और यही हृदय का दुःख हलका होने के हेतु उस के मुख से उपदेश-स्वरूप धारण कर बाहर निकलता है। खुद का पूरा फायदा होने पर भी सब लोगों का कल्याण जब तक न हो तब तक परोपकारी पुरुष की आत्मा शांत नहीं हो सकती और इसी लिए कोई उसे पूछे या न पूछे वह उपदेश करता चला ही जाता है।

इसी प्रकार के सदुपदेश को श्रीतुकाराम जी महाराज ने कई बार मेघ-वृष्टि की उपमा दी है। चारों ओर की गरमी से भूतल पर की सब आर्द्रता नष्ट हो कर वही मेघरूप में परिणत होती है और फिर उसी भूतल को शांत करने के लिए वह वर्षारूप में गिरती है। उसी प्रकार दुनिया के दुःखी जनों के दुःख देख उसी संवेदना से श्रीतुकाराम जी ऐसे साधु पुरुष का हृदय पसीजता है और उसी पसीजे हृदय से सदुपदेश-भरे शब्दों की वर्षा होती है। जमीन पर पानी गिराता हुआ मेघ भूमि की योग्यायोग्यता का भेदभाव मन में रख कर नहीं बरसता। वह अपने स्वभावानुसार पानी गिराता है और नीचे की जमीन अपनी-अपनी योग्यतानुसार उस पानी को ग्रहण कर कहीं हरी-भरी होती है या कहीं अपने पर

बूँद भी न ठहरने दे कर रूखी की रूखी ही रह जाती है। इसी तरह श्रीतुकाराम जी महाराज का उपदेश सार्वजनिक स्वरूप का रहता। वे किसी विशिष्ट व्यक्ति को अपने उपदेश का लक्ष्य नहीं बनाते थे। उपदेश सुन कर जिस से जो दोष होता उसे ही वह फटकार लगती और अपने-अपने स्वभावानुसार वह उसे ग्रहण करता। आचार्य अभिनवगुप्त जी ने उपदेश के तीन प्रकार माने हैं—प्रभु-सम्मित, सुहृत्सम्मित और कांता-सम्मित। पहले प्रकार का उपदेश राजाज्ञा की नाईं कहता है "ऐसा-ऐसा करो। न करोगे तो दंड दे कर तुम से वह करवाएँगे।" सुहृत्सम्मित उपदेश हितकर मित्र-सा स्पष्ट शब्दों में व्यक्तिगत दोष दिखला कर उस व्यक्ति को सुधारने का यत्न करता है। और तीसरा प्यार करनेवाली पत्नी की तरह प्रत्यक्ष उस व्यक्ति का उल्लेखन कर केवल सामान्य शब्दों में कोई बात कह देता है। इसी प्रकार के उपदेशप्रद शब्दों को मम्मटाचार्य जी ने काव्य कहा है। क्योंकि इस का अर्थ वाच्य न रह कर व्यंग्य रहता है। श्रीतुकाराम जी के उपदेशपर अभंग भी इसी लिए काव्य माने जाते हैं। उन्हें पढ़नेवाला पाठक जिस मनःस्थिति में होगा, उसी मनःस्थिति-विषयक आप का उपदेश उस के मन में दृढ़ जम जाता है और बिना कुछ परिश्रम किए उस का मन उस सदुपदेश को ग्रहण कर स्वयं अपने दोष दूर करने लग जाता है। आप का उपदेशरूपी अभंग-संग्रह धर्मार्थ औषधालय का सा है। सौम्य से सौम्य औषधियों से ले कर तीव्र से तीव्र औषधियाँ या उपायों तक सब चीजें यहाँ विद्यमान हैं। इस औषधालय में एक और विशेषता यह है कि रोग और औषधि दोनों का पूरा-पूरा वर्णन उस औषधि के नीचे लिखा हुआ है। जिस मरीज को जो बीमारी हो, वह अपने रोग के मुआफिक दवा पहचान ले और उस का मजे से सेवन करे। न कोई उसे रोकेगा, न कोई उस पर जबरदस्ती करेगा। इस लिए अब सामान्य स्वरूप के इन औषधिस्वरूप अभंगों का विचार करें ताकि पाठकों में से यदि किसी को इच्छा हुई तो अपना रोग पहचान उस की दवा का वह सेवन करे और नीरोग हो जावे।

यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि श्रीतुकाराम जी महाराज का खास उपदेश हरि-भक्ति का है। हरि से एकरूप होने पर भी जिसे उन्हों ने न छोड़ा, जिस के प्रेम में वे आमरण रँगे रहे, उस हरिभक्ति का उपदेश न करना उन के लिए अशक्य ही था। आप का अटल सिद्धांत था कि जिसे नरदेह की प्राप्ति हुई हो, उस को हरि-भक्ति कर के नरदेह का साफल्य करना चाहिए। राजा हो या रंक, शूर हो या कायर, सिद्ध हो या साधक, ब्राह्मण हो या चांडाल हर एक को हरिभक्ति का उपदेश आप ने एक ही सा किया है। नरदेह बार-बार नहीं मिलता। और किसी देह में मुक्त होना दुष्कर है। इस नरदेह में ही मुक्ति मिलाना सुलभ है। कई जन्मों के बाद इस नरदेह की प्राप्ति होती है। पर इस प्राप्ति में मनुष्य फूला-फूला फिरता है। उस के मन में यह विचार स्पर्श तक नहीं कर पाता कि यह नरदेह अपने अधीन नहीं है। यह हमेशा अपने साथ एक ही स्वरूप में रहनेवाला नहीं है। जिन आँखों को उन की इच्छा के अनुसार बड़े-बड़े प्रयत्नों से अनेक दृश्य दिखाए, वे आँखें हमें थोड़े ही दिन में छोड़ने का प्रयत्न करती हैं। जिन बालों को सुगंधित तेल लगा कर और गरम पानी से धो कर सँवारा, वे भी या तो अपना रूप बदलते हैं या हमारे पास

से उड़ जाते हैं। जिस देह का पालन करने में हम दिन-रात परिश्रम करते है, वह भी हमारे सब कष्टो को ग्रहण कर अंत मे नाना प्रकार के दुःखों से व्याप्त हो जाता है। अंत मे काल की ओर देखा जावे, तो वह पल-पल गिनता हुआ आखिरी घड़ी साधने के लिए नजर लगा कर बैठा ही है। इस स्थिति मे एक दूसरे की मौत देखते हुए भी मनुष्य निश्चिंत हो कर 'आज नहीं कल करूँगा' कहता हुए बैठ ही कैसे सकता है? इस लिए जब तक काल का हमला हुआ नहीं, तभी तक सब काम छोड़ कर आदरपूर्वक श्रीहरि नाम लेना चाहिए और अक्षय सुख का भाडार भर कर, अपना हित साध लेना चाहिए। जब काल की झपट आवेगी, तब मा-बाप, भाई-बहन, स्त्री-पुत्र तुझे कोई भी छुड़ा न सकेगा। इस लिए जब तक सामर्थ्य है, जब तक इंद्रियों की शक्ति बनी हुई है, तभी तक उठो और शीघ्रता से श्रीपाडुरग की शरण जाओ। तुम्हारे हाथ कुछ नहीं है। देनेवाला, दिलानेवाला ले जाने और लिवा जानेवाला वही है। तुम तो केवल निमित्त मात्र हो। इस लिए नश्वर सुखो के हेतु शाश्वत ईश्वर-शक्ति को न छोड़ो। इस हरि-भक्ति के लिए किसी विशिष्ट अधिकार की आवश्यकता नही। तुम चाहे जिस जाति के हो, तुम्हारे हाथो कितने भी महापाप क्यों न हुए हो, केवल मुख से नाम स्मरण करो तो सब कुछ हो सकता है। आप ने बड़ी अधिकारयुक्त वाणी से कहा है कि "लोगो, सुनो, अपने हित की बात गुनो, अपने मन से पढरीनाथ का स्मरण करो। नारायण नाम गाते हुए फिर तुम्हे कुछ भी बधन न रहेगा। भवसागर तो इसी तीर पर तुम्हारी दृष्टि से सूख जायगा। कलिकाल तुम्हारी सेवा करेगा। माया-जाल के सब फदे छूट जावेगे और रिद्धि-सिद्धि तुम्हारी सेवा करने लगेगी। सब शास्त्रो का सार यही है। सब वेदो का गुह्य यही है। सब पुराण भी इसी विचार का प्रतिपादन करते है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तो क्या चाडालों को भी नाम-स्मरण का अधिकार है। बच्चे, स्त्रियाँ, पुरुष, वेश्याओ को भी यहाँ मनाही नही। तुकाराम ने स्वय इस का अनुभव किया है और जिस किसी की इच्छा हो वही इस का अनुभव कर सकता है।"

इस सुलभ साधन का प्रचार करने के हेतु श्रीतुकाराम को बडे कष्ट उठाने पड़े। इस सीधे-साधे रास्ते से जानेवाले लोगों के मार्ग मे जो अनेक मत-मतातरों के काँटे फैले पड़े थे, उन्हे दूर करना अत्यत आवश्यक था। इन की खबर यदि तुकाराम अपनी ओजस्विनी वाणी से न लेते तो यह मार्ग इतना प्रचलित न होता। आप का तो मत ही था कि "यदि पीस कर आटा अच्छा बनाना हो तो अनाज में के ककड़ पहले बीन डालने चाहिए। खेत मे उगी हुई घास जब तक न निकाली जाय तब तक खेत अच्छी तरह से नही बढ़ता है। अन्यथा सब काम बिगड़ जाता है और जरा से आलस के कारण आखिर में केवल 'हाय-हाय' ही बचती है।" इसी लिए आप ने मत-मतातरो का खंडन किया। गाँजा पीने-वाले, मद्यपी, चेलो से वेष्ठित, संत महतो की आप ने ख़ूब ही खबर ली है। ज़बरदस्ती उपदेश देनेवाले, दक्षिणा माँगनेवाले, विधवा स्त्रियों को ललचा कर उन के पास से द्रव्य छीननेवाले, तमोगुणी, पेटपूजक महत, प्याज खानेवाले और शूद्र स्त्री को रखेली बनानेवाले ब्राह्मण पुराण-पाठक; जटा बढा कर अपने देह में भूत-पिशाचों का सचार करा कर भविष्य कथन करनेवाले साधु, बड़े-बडे तिलक लगा कर और ढेरों माला गले में पहिन कर भजन करनेवाले

वैरागी; गेरुए कपड़े पहने हुए सन्यासी; कान फाड़ कर भीख माँगनेवाले नाथपथी; कौड़ी-कौड़ी के लिए सिर फोडनेवाले और लोहे की ज़ंजीर और चमड़ा पहननेवाले मलग; तिलक टोपी और सफ़ेद धोती पहने हुए श्राद्धातप्रिय तीर्थवासी पडे, भस्म लगा कर और गले में लिग बाँध कर घटा और शख बजानेवाले जगम, इन सबों की पोल श्रीतुकाराम जी ने अपने अभगों मे खोल दी है। इन मे से कुछ तो लोगो से मान-सम्मान पाने के लिए कोर-कोर कर तिलक लगाते थे, कुछ बदन पर भभूत रमा कर आँखों को मूँद पापाचरण करते थे, अन्य वैराग्य के नाम से यथेच्छ विषयोपभोग करते थे और दूसरे छाछ अपने शिष्यों को पिला कर समर्पित दूध सामने आते ही 'नारायण' कह उस को प्रेमपूर्वक स्वीकार करते थे। कुछ लोग शरीर मे देवताओं का सचार करा कर लोगो को भुलाते थे। इन के विषय में तुकाराम जी पूछते "यदि देव इन के अधीन होता तो ये भीख क्यों माँगते, और इन के बाल-बच्चे क्यो मरते ?" इन्हीं के साथ ब्रह्मज्ञान की बाते कह कर भक्ति का उच्छेद करनेवालों पर भी श्रीतुकाराम जी ने अच्छी फटकारें लगाई है। ब्रह्मज्ञान कहने की बात नहीं है, अनुभव करने की है। मुख से ब्रह्मज्ञान की बात कहे मन मे धन की तथा मान की अभिलाषा धरे। ऐसे लोगों के विषय मे तो आप ने यह कहने मे भी कसर न रक्खी कि धिक्कार है इन लोगो को जो केवल अपनी वाणी को कष्ट दे कर लोगों से तो ब्रह्मज्ञान की बातें करते हैं और स्वय अनाचार करते हैं। आप प्रश्न किया करते थे कि यदि सब ब्रह्म-स्वरूप है और बिना ब्रह्म के एक भी स्थान खाली नहीं है तो देवता की मूर्त्ति मे ही ब्रह्म क्यों नहीं है ?" पर जिस के मन मे भाव नहीं उसे कहाँ तक समझाया जावे। ऐसे सब लोगों से आप का साफ़-साफ़ कहना था कि "धतूरा पिला कर लोगो को न लूटो। अपनी इद्रियों पर विजय पा कर पहले उन्हे अपने काबू में लाओ। निश्चय से चलो, जैसा बोलो वैसा करो, पेट भरने की विद्या और परमार्थ की गटपट न करो और आत्मवचना कर लोगों को न भुलाओ। निष्काम भजन से हरि-प्राप्ति कर लो और फिर उस के गुणानुवाद गाते ही रहो। ज्ञान का ढोंग न फैलाओ, सगुण भक्ति का सेवन करो और जब तक तद्द्वारा सिद्धि प्राप्त न हो अद्वैत की बाते न करो। इस प्रकार खुद तरो और दूसरो को तारो।" कभी सौम्य और कभी कठोर भाषा में इन सब लोगों को श्रीतुकाराम जी महाराज इसी आशय का उपदेश करते थे।

दभ पर आप की बडी कड़ी नज़र थी। यह पहले कहा गया है कि व्यक्तिगत विषय में आप थोड़े से दभ के पक्ष में थे। परतु मन मे राम न रहते हुए भी राम-नाम की माला एकात में फेरने के योग्य ही दभ आप चाहते थे। क्यों कि आप की दृढ श्रद्धा थी कि ऐसा करने से धीरे-धीरे चित्त शुद्ध होता है। पर साथ ही दभाचार कर लोगों को फँसानेवाले दाभिकों पर आप का बड़ा क्रोध था। इसी लिए जहाँ-कहीं दाभिक लोग आप के देखने में आते, उन पर आप बराबर अपना टीकास्त्र चलाते। बाहर का स्वाँग बना कर लोगों की आँखों में धूल फेंकनेवालो की आप खूब कलई खोलते। आप कहते "भगवे रग के कपड़ों से ही यदि आत्मानुभव आता तो सभी कुत्ते आत्मानुभवी हो जाते, क्यो कि उन्हें तो भगवा रंग ईश्वर ने ही दिया है। जटा-दाढ़ी बढाने से ईश्वर मिलता तो सभी सियार ईश्वर को

प्राप्त कर लेते। जमीन खोद भीतर रहने से यदि मुक्ति मिलती तो सभी चूहे मुक्त हो जाते। इस लिए तुकाराम का मत है कि ऐसे बाहरी रूप बना कर शरीर को पीड़ा व्यर्थ में न देनी चाहिए।" छुआ-छूत का दंभ करनेवालों से आप का सवाल रहता कि "बाहर धोने से क्या फायदा—जब तक अंतर मैला है? पाप से भरे देह का विचार न कर के जो भूमि सदैव पवित्र है उसे शुद्ध करने से क्या लाभ?" अगर शुद्धि चाहते हो, तो काम-क्रोधादिकों का संसर्ग टाल कर शुद्ध होना चाहिए। अगर मनुष्य अपना हित चाहता है तो उसे दंभ को दूर करना चाहिए, चित्त शुद्ध करना चाहिए और एकांत में बैठ श्रीविट्ठल का नाम लेना चाहिए। ऐसा करने ही से गोपाल जी हृदय में आ बैठेंगे और कष्ट के फल प्राप्त होंगे। आप शुद्ध मन के बड़े प्रेमी थे। जब तक हमारा मन शुद्ध न हो तब तक दूसरों पर हँसने का हमें अधिकार ही क्या? एक अशुद्ध-चित्त के पुरुष का दूसरे अशुद्ध-चित्त पर हँसना ऐसा ही है मानों दोनों आँखों में मोतीबिंदु रखनेवाला पुरुष किसी काने की ओर देख कर हँसे। आँखों में जैसे अणुमात्र भी धूलकण नहीं सहा जाता वैसे ही चित्त में जरा-सी भी अशुद्धता न रखनी चाहिए। मनुष्यों को चित्तशुद्धि के विषय में कोई फँसा सके तो सके पर सर्वांतर्यामी ईश्वर को इस विषय में भुलावा देना संभव नहीं। शुद्ध होते ही चित्त स्थिर होता है और फिर इष्ट विषय पर जम जाता है। जिस का चित्त स्थिर नहीं वह तो पागल कुत्ते का-सा इधर-उधर चारों ओर घूमता फिरता है। ऐसे अस्थिर चित्त को न काशी से लाभ न गंगा से। मन चंगा न रखनेवाले लोग गंगा जी में भी वैसे ही अपवित्र बने रहेंगे। जैसे उबलते पानी में भी बुरे दाने गलते नहीं, वही हालत इन अस्थिर चित्त लोगों की है। चित्त-शुद्धि न हो वहाँ उपदेश से क्या लाभ? इस विषय में आप ने कई दृष्टांत दिए हैं। आप कहते हैं "अगर पानी ही साफ़ न हो, तो साबुन से क्या फायदा? वंध्या स्त्री को संतान न हो, तो पति का क्या दोष? नपुंसक को स्त्री से भी सुख क्या? प्राण चले जाने पर शरीर किस काम का? बिना पानी के खेती कैसे हो?" दुष्टचित्त पुरुष दुनिया भर को दुष्ट ही समझता है। दुराचारी पुरुष का अपने साले पर भी विश्वास नहीं जमता। चोर को सब संसार चोर ही मालूम पड़ता है। इस लिए चित्त को शुद्ध और दृढ़ रखना चाहिए। यह सहल नहीं है, पर इसे साध्य किए बिना काम नहीं चलता। टाँकियों के घाव सह कर ही पत्थर ईश्वर-प्रतिमा का स्वरूप पाता है। जो शूर पुरुष बाण, शस्त्र, गोली खाता है, उसी की कीर्ति बढ़ती है। जो आग का डर भूल जाती है, वही स्त्री सती-पद को प्राप्त होती है। इसी प्रकार जिसे इष्ट-साधना करनी हो, उसे चित्त शुद्ध और दृढ़ कर के इष्ट विषय में लगाना चाहिए।

चित्त शुद्ध करने के लिए उसे अशुद्ध करनेवाली बातों से बचाना चाहिए। चित्त को लुभा कर इधर-उधर भड़कानेवाले विषय—विशेषतः द्रव्य और स्त्री को टालना चाहिए। विषयासक्ति को श्रीमद्भगवद्गीता में भी सर्व दुःखों का मूल बताया है। इसी से संग, काम, क्रोध, सम्मोह, स्मृति-भ्रंश, बुद्धिनाश और अंत में सर्वनाश होता है। इन विषयों के लोभ से ही ज्ञानी पुरुष पशुवत् आचरण करते हैं। लोभ में लोभ रखने से आत्मा में क्षोभ उत्पन्न होता है। विषयलोलुप लोगों की जहाँ देखो वहाँ फ़जीहत ही होती

है । सेवन करते समय तो ये विषय मीठे लगते हैं पर इन के फल कड़ए से कडुए होते हैं । इन चित्त-विक्षोभक विषयो में आप ने दो को प्राधान्य दिया है । एक कनक और एक कामिनी । कनक शब्द मे सभी इष्ट पदार्थो की व्याप्ति है, जो द्रव्य से मिल सकते हों । इस लोभ से मनुष्य की कृपणता बेहद बढ जाती है । इसी से वह अन्य सब काम छोड़ देता है और केवल कृपणता मे ही आसक्त रहता है । इस बात का आप ने एक बड़ा मनोरजक दृष्टांत दिया है । एक स्त्री एक समय पढरपुर जाने के लिए निकली । वारकरी लोगों के साथ शहर के दरवाजे तक जा कर उसे कुछ याद आई और घर मे आ कर बहू से कहने लगी "अरी बहू, सुन । मैं तो जाती हूँ, पर घर का दूध-दही न खर्च डालना । दही का जो छोटा उबला मैंने जमा रक्खा है उस का दही मेरे वापस आने तक न निकालना । सिल-लोढ़ा, ऊखल-मूसल सब सँभाल रखना । कोई ब्राह्मण घर आवे, तो उस से कहना घर के लोग पढरपुर गए हैं । थोड़ा-थोड़ा ही खाना ताकि घर मे के चावल खतम न हो ।" बहू ने सब कुछ सुन लिया और जवाब दिया, "आप का कहना सब ध्यान मे है । आप सुख से यात्रा कीजिए और घर की फिक्र कुछ न कीजिए ।" बहू की यह सादी बात भी सुन बुढ़िया विचार करने लगी, "यह सौत तो यही चाहेगी । इस लिए अब पढरपुर न जाऊँगी । यहीं रहूँगी ।" विचार कर आखिर बोली—

बाल बच्चे, घर दार । यही मेरा पढरपुर ।
अब पढरी न जाऊँ । सुख मान घर रहूँ ॥

ऐसे सब लोगो को तुकाराम जी का उपदेश है कि "करोड़ो रुपए पाओ पर ध्यान रहे इस बात का कि साथ लँगोटी भी न जावेगी । चाहे जितने पान खाओ, आखिर सूखे मुख से ही जाना पड़ेगा । पलग, गद्दा, तकियो पर मज़े से लेटो, पर अत मे लकड़ी कडों के ही साथ सोना है । इसी लिए तुकाराम कहता है कि इन सबों का त्याग कर एक राम की ही चिंता करो ।" परधन और परनारी के विषय मे आप ने कहा है कि "अगर कोई साधना करना चाहे तो दो ही साधन बस हैं । परधन और परनारी को वह कभी न छूए ।" स्त्रियों के विषय में आप का स्वय बड़ा कटु अनुभव था । इसी कारण आप ने बड़े कड़े शब्दो मे स्त्रियों की निंदा की है ।

चित्त-विक्षोभक तथा चित्त को अनाचार मे प्रवृत्त करनेवाली बातों के वर्णन में आप ने तत्कालीन हीन समाज-स्थिति का यथार्थ चित्र खींचा है । उस समय वेद-पाठक ब्राह्मण मद्य-सेवन करते थे, उन्हों ने अपना आचार छोड़ दिया था, वे हरि-कथा सुनने में हीनत्व समझते थे और व्रत, तप आदि कुछ न कर केवल पेट का पूजन करते थे । वे चोरी और चुग़लखोरी करते थे । चदन यज्ञोपवीतादि ब्राह्मणो के चिन्ह छिपा कर मुसलमानी लिबास पहनते थे । मुदबकखाने का हिसाब लिख कर और तेल, घी इत्यादि रस बेच कर उपजीविका करते थे । ब्राह्मण इस प्रकार नीच के भी नौकर हो चुके थे । राजा लोग प्रजा को पीड़ा देते थे । जब ये दो मुख्य वर्ण अपना-अपना कर्तव्य छोड़ चुके थे, तब वैश्या-दिकों से और क्या अपेक्षा की जाती ? लोग गाये और बेटियाँ बेचते थे । बेटी बेचने के

विषय में तुकाराम ने लोगों की खूब ही निंदा की है। जो कोई गाय बेचता, कन्या के बदले धन का स्वीकार करता तथा हरिकथा कह के पैसे कमाता वह आप के मत से चांडाल-सदृश होता। ये लोग यह नहीं जानते थे कि कन्यादान का पुण्य पृथ्वीदान के समान है। ऐसे पुण्यकारक कन्यादान के आगे कन्या-विक्रय करनेवालों के पाप की गणना कहाँ तक की जाय? कुछ लोग सत-सज्जनों का आदर करने के बजाय मुसलमानों के देवों को पूजते थे। पेट के मारे लोगों की यह हीन-दीन स्थिति हो रही थी कि चांडालों के घर से भी खिचड़ी माँग खाते थे। लोगों की बुद्धि ऐसी भ्रष्ट हो गई थी कि महार, माँग इत्यादि अस्पृश्य जाति की स्त्रियों से संबंध रखते। गाय को मारते और घोड़ों की सेवा करते। वेश्याओं को वस्त्रादि उपहार देते और ग़रीब लोगों को धक्के मार कर निकालते। हरिकीर्तन में जाने के लिए उन्हें समय न मिलता पर घंटों ही चौपड़ खेलने में गँवाते। स्त्री-संबंधी जनों को घर में खूब खिलाते, पर मा-बाप को घर के बाहर निकाल देते। साधुओं को चुल्लू भर पानी न देते पर रखेली के न्हाने के लिए पानी खींच देते। हरिदासों के पैर कभी न छूते, पर वेश्याओं की चोलियाँ भी धोते। ब्राह्मणों को नमस्कार न करते, पर तुर्की औरतों को मा से भी अधिक मानते। देव-दर्शन को न जाते पर चौराहों पर बड़े ठाट-बाट से अड़ बैठते। स्नान-संध्या या राम-राम न कहते पर बड़ी चाव से गुड़-गुड़ आवाज निकालते हुए हुक्का पीते। अपना सब जीवन स्त्री के अधीन करते और उस का मन रखने के लिए घर के लोगों से विभक्त हो अलग रहते। यह सब परिस्थिति देख कर तुकाराम जी के हृदय में बल पड़ जाता और आप के मुख से पुकार निकल उठती कि 'नाथ, क्या आप सो रहे हो? अब तो उठ दौड़ो और भारत को बचाओ।'

अनाचार में प्रवृत्त करनेवाले विषयों का ज्ञान होने पर भी उन्हें टालना और मन को सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करना आसान नहीं है। मनुष्य अनेक बार अपने मन को बुरी बातों की ओर से परावृत्त करता है, पर वह हठी बालक-सा फिर-फिर उसी की ओर दौड़ा जाता है और इस कारण मनुष्य कई बार अपनी उन्नति के विषय में निराश हो जाता है। ऐसे निराश जीवों को तुकाराम जी का उपदेश फिर से आशायुक्त कर देता है। आप के कई अभंगों में ऐसी वीरश्री भरी हुई है कि कायरों के हाथ भी फ़ुरफ़ुराने लगते हैं। मरे से मरे दिल में भी कई अभंग जान डाल देते हैं। आप का कथन है कि मनुष्य को धीरे-धीरे मन को जीतना चाहिए। सब से पहले कुछ न कुछ नियम कर के उसे नित्य पालना चाहिए। जो कोई नित्य-नियम के बिना अन्न-सेवन करता है उस का जीवन आप के मत से कुत्ते का-सा है। कुछ न कुछ ध्येय मनुष्य अपने सामने न रक्खे तो उस का जीवन लज्जास्पद ही है। मनुष्य को उद्योग—सतत उद्योग—करना चाहिए। किया हुआ ही प्रयत्न फिर-फिर से करना चाहिए। मथन करने के बाद ही मक्खन हाथ आता है, पहले नहीं। इस लिए अच्छा काम बार-बार करना चाहिए। पौधा जब तक जमीन में अच्छी तरह जमा नहीं तब तक उसे पुनः-पुनः सींचने की आवश्यकता रहती है। एक बार यदि वह सूख जावे तो फिर उस में कोंपलें आने की आशा नहीं रहती। टाँकी की चोटें खाते-खाते जो पत्थर बचता है वही देव-स्वरूप को पहुँचता है और जो फूट जाता है वह पायखाने में

लगाया जाता है। मुश्किल पहले-पहल ही पड़ती है। मक्खन में जब तक मैल रहता है तभी तक वह कड़कड़ाता है और उफान खाता है, मैल जल जाने के बाद वह स्वयमेव शांत हो जाता है। अगर फायदा चाहो तो मुफ़्त में नहीं मिलता। जो कोई हथेली पर सिर रख कर लड़ाई में लड़ता है उसे ही विजय मिलती है। ऐसे कामों में उतावली किसी काम की नहीं। पानी की चाल से धीरे-धीरे ही चलना चाहिए। जो बीज जमीन में गहरा बोया जाता है वही अच्छा आता है। ऊपर-ऊपर बिखरा हुआ बीज चिड़ियाँ चुग जाती हैं। जो सोना कसौटी पर कसा जाता है और आग में परखा जाता है वही कीमत में चढता है। अगर गेहूँ के आटे की रोटी अच्छी बनाना हो, तो उसे खूब गूँथना पडता है। इसी प्रकार मन को भी बार-बार गूँथना चाहिए। रोज के रोज कुछ न कुछ करना चाहिए। सूखी बातों से ही काम नही चलता। धीरज रक्खो तो भगवान् अवश्य सहायता देते हैं। शांति-पूर्वक धीरज से अभ्यास करो तो असाध्य बातें भी सुसाध्य हो जाती हैं। अभ्यास सब कामों को आसान कर देता है। सूत की रस्सी भी रोज आते-जाते पत्थर को काट डालती है। इस लिए मनुष्य को उतावली छोड़, धीरज रख कर, उत्साह-पूर्वक एक-सा उद्योग करना चाहिए। ऐसा उद्योग करने पर ईश्वर दूर नही है।

दृढ़ निश्चय के कारण जैसे-जैसे मन काबू में आता है, वैसे-वैसे आशा, ममता, इत्यादिकों का नाश होता है और क्षमा, नम्रता, सत्य, शांति, दया, निर्वैर इत्यादि गुणों का उत्कर्ष होता जाता है। यदि ईश्वर-योग की इच्छा हो, तो सांसारिक सुखों की आशा मन से प्रथम नष्ट होनी चाहिए। आशा के कारण न उपदेशक साफ-साफ बोलता है न श्रोता यथार्थतया सुनता है। अर्थात् एक गूंगा और दूसरा बहरा बनता है और दोनो के समागम में कुछ भी लाभ न हो कर दोनो कोरे के कोरे रह जाते हैं। पक्षांतर में जिस ने आस छोड़ दी, उस का ईश्वर भी दास होता है। सत्तापूर्वक ईश्वर को अपना सेवक बनाना हो, तो आशा को प्रथम छोड़ दो। ईश्वर भी जिस पर कृपा करता है, उस की आशा अपहरण कर लेता है! भक्त के आशा-पाशों को वह प्रथम ही तोड़ डालता है। खुद के सिवा दूसरे किसी को भक्त का आधार वह रहने ही नही देता। आशा, तृष्णा, माया, अपमान के बीज हैं और भक्त के विषय मे ईश्वर इन्हें पहले ही नष्ट कर देता है। अतएव यदि अपनी आशा, ममता इत्यादिकों के स्थान नष्ट हो जावें, तो मनुष्य को वह ईश्वर का अनुग्रह ही समझना चाहिए। ईश्वर-प्राप्ति के आड़ आनेवाली बातें तथा व्यक्ति, सबों का त्याग करने का तुकाराम जी ने सोदाहरण उपदेश किया है। प्रह्लाद ने पिता, भरत ने माता, बिभीषण ने भाई का त्याग ईश्वर के लिए ही किया। वैसे ही ईश्वर के आड़ आने वाले पुत्र-पत्नी इत्यादिकों को भी छोड़ना चाहिए। अपने ध्येय के हेतु संसार की आशाएँ छोड़नी ही पड़ती हैं। संसार प्रवृत्तिपर और ध्येय निवृत्तिपर होने से दोनों का साथ जम ही नहीं सकता। जब आशा, ममता, तृष्णा चित्त से नष्ट हो जाती हैं, उन का स्थान दया, शांति, क्षमा ले लेती है। क्रोध का मूल काम ही जहाँ न रहे, वहाँ शांति के अतिरिक्त और क्या रह सकता है? इन्हीं गुणों के साथ मन में समाधान-वृत्ति उत्पन्न होती है। मन की अशांति से चंदन भी शरीर में अग्नि की-सी जलन पैदा करता है और मन की शांति होने पर मनुष्य

सुख से विष भी पी सकता है। शाति, क्षमा, दया ही मनुष्य के सच्चे अलकार हैं। इन की प्राप्ति जब तक न हो, तब तक मनुष्य सुखी नही हो सकता। इन्ही गुणो के साथ सब भूतो के प्रति निर्वैर उत्पन्न होता है और फिर जो परिस्थिति प्राप्त हो, उसी मे मनुष्य सुखी रह सकता है। फिर वह "पानी भरे या पलग पर सोवे, उम्दा से उम्दा खाना खावे या सूखी रोटी के टुकड़े चबावे, घोड़ा-गाड़ी पर चढ़े या पैर मे जूता भी न पहन कर चले, अच्छे-अच्छे कपडे पहने या फटे-पुराने चीथड़ो से शरीर ढाँके, सपत्ति मे रहे या विपत्ति मे फँसे, और तो क्या उस का सज्जनो से समागम हो या दुर्जनो से, उसे सुख-दुःख एक-सा ही जान पड़ता है, और जो समय प्राप्त होता है, उसी के अनुकूल वह बड़ी ख़ुशी से दिन काटता है।" इसी लिए तुकाराम जी का उपदेश है कि जो स्थिति प्राप्त हो, उसी मे सुख से रहो। किसी बात की या पेट भरने की भी चिंता न करो। अन्न-वस्त्र के लिए किसी की याचना न करो। नर-स्तुति तो मुख से कभी न निकालो। ईश्वर पर सब भार डालो और अपना कर्तव्य करते हुए सुख से रहो।

श्रीतुकाराम जी महाराज के सदुपदेश का अत्यत सक्षेप मे यह सार दिखलाया है। आप के श्रोतागणों मे सभी प्रकार के लोग समाविष्ट थे। गोब्राह्मणप्रतिपालक, स्वधर्म-सस्थापक, स्वराज्य-प्रवर्तक श्रीशिवाजी महाराज के-से वीर पुरुष, वेदशास्त्र-सपन्न सदाचारी रामेश्वर भट्ट जी से सत्यशील ब्राह्मण, मुसलमानो के शासन मे बड़े-बड़े ओहदों पर काम करनेवाले हिंदू अधिकारी, अपना सर्वस्व श्रीविट्ठल-चरणो पर समर्पित कर पढरीश श्रीपाडु-रग के भजन में रँगे हुए वारकरी, परमेश्वर के कृपापात्र चिंचवड़कर देव से प्रसिद्ध महंत, कुत्ते की दुम-से अपनी वक्रता न छोड़नेवाले और सदोदिन कष्ट देनेवाले मंबाजी ऐसे स्वभाव-दुर्जन, पति के साथ सुख से ससार करनेवाली बहिणाबाई-सी भक्त स्त्री तथा सासा-रिक दुःखो से त्रस्त हो कर तुकोबा को ही भला-बुरा सुनानेवाली जिजाई-सी पत्नी, सबों को श्री तुकाराम महाराज जी ने खुल्लम-खुल्ला उपदेश दिया है। ध्यान मे रखने योग्य बात यह है कि आप ने किसी को अपना शिष्य न बनाया और उसे किसी प्रकार का गुह्य उपदेश नहीं किया। किसी को अपना शिष्य बनाने के आप पूर्ण विरोधी थे। आप का मत था कि साधु पुरुष को मेघवृष्टि न्याय से उपदेश करना चाहिए, पर किसी को अपना शिष्य न बनाना चाहिए। आप के उपदेशामृत से सब प्रकार के लोगो ने यथाधिकार लाभ उठाया और कृतार्थता प्राप्त की। आप का उपदेश हमेशा सूत्र-रूप से होता था। उस मे केवल मुख्य-मुख्य तत्व बतलाए जाते थे। छोटी-मोटी गौण बातों की ओर आप ध्यान न देते थे। मोह-निद्रा मे से जड़-जीवो को जाग्रत करना ही साधु-सतों का कर्त्तव्य होता है। इस विषय मे कि जागने पर हर एक व्यक्ति को क्या करना चाहिए, सत लोग प्रायः चुप रहते हैं। वे जानते हैं कि इस विविध ससार मे व्यक्ति-विषयक उपदेश करना अनावश्यक और अशक्य है। इस लिए श्रीतुकाराम जी महाराज से साधु पुरुष केवल जीवो की माया-निद्रा उठा देते हैं, धर्म और भक्ति के बीज उन के हृदय मे बोते हैं, कर्त्तव्य-कर्म की ओर उन्हें प्रवृत्त करते हैं, ज्ञान-वैराग्यादि का उपदेश दे कर देह-बुद्धि का नाश करते हैं और सामान्य नरो को भी नारायण-स्वरूप होने की करनी सिखाते हैं। जिस प्रकार मनुष्य दर्पण मे अपना रूप देखता

है और बिना किसी के बतलाए जान जाता है कि उस के रूप मे गुण-दोष क्या हैं, उसी प्रकार आप के अभगों का पाठ करते-करते पाठक अपना-अपना रूप देखते हैं, और अपने-अपने गुण-दोष पहिचान दोषो को दूर कर गुणो की वृद्धि करने मे तत्पर हो जाते हैं। आज तक हज़ारो जीव आप के उपदेशामृत का पान कर भवरोग से मुक्त हो चुके हैं, और न मालूम भविष्य-काल मे कितने और जीव इसी उपदेश-वृष्टि से अपने ससारतप्त-जीवों को शीतल करेंगे। ऐसे उपकारी पुरुष के गुण कहाँ तक कोई गा सकता है। अतएव उस झगडे मे न पड़ कर इस परिच्छेद को यही समाप्त करें।

त्रयोदश परिच्छेद

संत-माहात्म्य

श्रीतुकाराम जी महाराज के अभगो का एक बड़ा भारी विभाग संत-सज्जनों के वर्णन से भरा हुआ है। अपने जीवन में आप को विशेषतः दुर्जनो से ही काम पड़ा। यही कारण है कि सज्जनों का गौरव आप ने इतने महत्व का जाना। दुःखों की आँच से झुलसने के बाद ही सुख की शीतल वायु का आस्वाद अधिक शातिप्रद मालूम पड़ता है। आप के मतानुसार दुर्जन वही है जो ईश्वर से स्वय विमुख रहे और दूसरों को भी विमुख करे। इस व्याख्या को मान कर तो यही कहना पडेगा कि घर की स्त्री से ले कर बाहर के मबाजी बावा तक सब प्रकार के दुर्जनों से आप को जन्म भर झगड़ना ही पड़ा। अतएव दुर्जनो के सब प्रकार आप को विदित थे। और यही कारण है कि आप के कामों का यथार्थ स्वरूप पहचान कर आप को भगवद्भक्ति के विषय मे अधिकाधिक प्रेरित करनेवाला हर एक पुरुष आप को बड़ा भारी सज्जन-सा जान पड़ता था। इस परिच्छेद में हमें यही देखना है कि तुकाराम जी ने सज्जन-दुर्जनों के विषय में क्या लिखा है।

श्रीतुकाराम जी महाराज जिन लोगो से प्रेम करते थे उन्हे हम तीन वर्गो में विभक्त कर सकते हैं। इन में प्रथम वर्ग है हरिदास या वैष्णव लोगो का। माथे पर ऊर्ध्व-पुंड्र लगा है, गले मे तुलसी की माला पड़ी हुई है, शंख-चक्रो की मुद्राएँ लगी हैं, यह तो इन वैष्णवो का बाह्य रंग था। पर केवल इस ऊपर के ठाट-बाट से वैष्णव नहीं होता है। जिन लोगों को नारायण धन-सा जान पडता हो; भूख, प्यास सब भूल कर जो

श्रीहरि का नाम-स्मरण एक-सा करते हों, बैठते, सोते, चलते, फिरते, जिन का चित्त ईश्वर की ओर ही लगा हो, श्रीहरि-स्मरण की अपेक्षा जो पृथ्वी का राज्य ही नहीं, इंद्र का पद भी तुच्छ मानते हों; योगसिद्धि की जो बिल्कुल कीमत न करते हों, और तो क्या श्रीहरि के बिना मिलनेवाले मोक्ष को भी जो तृणवत् समझते हों, तुकाराम के मत से वे ही वैष्णव थे। यह तो हुआ ईश्वर-विषयक प्रेम। इसी प्रेम के कारण वैष्णवों का धीरज कभी न छूटता था। किसी विपत्ति मे वे अपने व्रत से न टलते थे। इसी दृढ़ विष्णुभक्ति के कारण विष्णुदास के भगवद्भक्त हो जाते थे। इन भगवद्भक्तों का समावेश दूसरे वर्ग में किया गया है।

इन भगवद्भक्तों का वर्णन करते समय तुकाराम जी कहते हैं, "वे ही भगवद्भक्त हैं, जो अपने शरीर के विषय मे बिल्कुल उदास हो गए, आशा-पाशो को जिन्हों ने बिल्कुल दूर कर दिया, जिन का सब विषय नारायण ही हो गया, यहाँ तक कि धन, मान, माता-पिता भी जिन्हे न भाए। ऐसे ही भक्तों के आगे-पीछे, चारो ओर नारायण रहता है और सब प्रकार के सकटों से उन्हे बचाता है। ये सत्य की हमेशा मदद करते हैं और असत्य से ऐसा डरते हैं, मानो नरक को जाना हो।" ऐसे ही लोग भक्ति-सुख से मस्त हो कलि-काल से भी निडर हो जाते है। इन के हाथों में हरि-नाम का बाण रहता है, मुख में विठ्ठल-नाम की गर्जना रहती है, किसी का परवाह इन्हे नहीं रहती, दोष भी इन से डर कर भागते हैं और मोक्ष तक की सब सिद्धियाँ इन के दरवाजे पर टहलती रहती हैं।

विष्णु-भक्ति के बाहय चिह्न जिन के पास दृश्यमान हैं, जिन्हो ने भक्ति करना आरभ कर दिया है, वे वैष्णव हैं। इन्हीं लोगो के मन में जब विष्णु-भक्ति दृढ-मूल हो जाती है, तब वे इन बाह्य-चिह्नो की इतनी परवाह नही करते। उन का ध्यान, उन का अतःकरण, परमेश्वर की ओर लगा रहता है और इस स्थिति मे वे भगवद्भक्त कहलाते हैं। पर यह भी श्रीतुकाराम जी महाराज के मतानुसार पूर्णावस्था नहीं है। शरीर, वाणी तथा मन तीनो परमेश्वर-परायण होने से ही सिद्धि नहीं होती। सिद्ध लोगों की दशा भगवद्भक्तों से भी ऊँची है। उस अवस्था को प्राप्त होने के लिए भक्ति का सत्य स्वरूप समझना चाहिए। श्रीतुकाराम जी के मत से भक्ति का स्वरूप है 'जनीं जनार्दन।' अर्थात् अखिल जगत में जनार्दन स्वरूप देखना। यह ज्ञान होते ही अज्ञावस्था मे जो भावना ईश्वर-विषयक रहती है, वह नष्ट हो जाती है। उस अवस्था में तो यह कल्पना रहती है कि परमात्मा वही है, जिसे हम राम, कृष्ण, विठ्ठल, शिव, विष्णु इत्यादि नामों से पुकारते हैं। पर इस पूर्णावस्था में यह ज्ञान हो जाता है कि परमात्मा का स्वरूप किसी विशिष्ट नाम-रूप से मर्यादित नहीं है, प्रत्युत संसार के हर एक नाम-रूप में भरा हुआ है। इतना ही नहीं सब ब्रह्माड को व्याप्त कर के भी वह बचा ही है। यह भावना दृढ़ होते ही वही भगवद्भक्त अब जगत के दुःख से दुखी होता है। उस के सब प्रयत्न ससार को सुखी करने के लिए होते हैं। उस की सब क्रियाओं का एक ही हेतु रहता है—दुनिया का फायदा कैसे हो। इस अवस्था में तुकाराम उसे संत या साधु या सज्जन कहते हैं।

इन्हीं सतों का वर्णन श्रीतुकाराम जी ने बड़ी भक्ति से किया है। आप कहते हैं

"सचमुच जिस का यह अनुभव है कि संसार ही देव है, उसी के पास ईश्वर है और उसी के दर्शन से पाप का नाश होता है। भूत मात्र के विषय में सम-बुद्धि रखने के कारण न उस के पास काम आता है और न क्रोध। किसी प्रकार का भेद-भाव उस के चित्त में रहता ही नहीं। भेदाभेद की सब बातें वहाँ समाप्त हो कर निरस्त हो जाती हैं।" संतों का जीवन केवल लोककल्याण ही के लिए है। लोगों का भला करने में ही वे अपनी देह लगाते हैं। भूतों पर दया करना ही उन का मूलधन है। अपने शरीर पर तो उन का ममत्व रहता ही नहीं। श्रीतुकाराम जी महाराज का कथन है कि दुखी लोगों को जो अपनाता है वही साधु है। देव वहीं पर है। सज्जनों का चित्त तो भीतर-बाहर एक, और मक्खन-सा मृदु रहता है। जिसे कोई सँभालनेवाला नहीं उसे साधु अपने गले लगाता है। पुत्र की ओर जो दया दिखलाई जाती है, साधु-पुरुष अपने नौकर-नौकरानियों पर भी वही दया दिखलाता है। वही साधु है। और तो क्या प्रत्यक्ष भगवान की मूर्ति वही है। अन्यत्र आपने कहा है कि जो जगत के आघातों को सहता है वही संत है। संतों के पास अवगुण की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। जैसे चंदन मूल से ले कर अग्र तक सुगंधित ही रहता है, पारस का कोई भी अंग सुवर्ण बनाने के गुण से हीन नहीं रहता, अथवा शक्कर सब की सब मीठी ही रहती है, उसी प्रकार खोज करने पर भी संतों के पास अवगुण नहीं मिलते। और एक अभंग में आप ने वर्णन किया है कि जिसे उस ब्रह्म का ज्ञान है जो सर्वगत और सर्वत्र एक रूप है, वही साधु है। उस के पास अन्यत्व या वैषम्य की भावना ही नहीं है। भक्ति ही उस का मूल कारण है। समबुद्धि और नास्तिक्यता का अभाव उस में रहता है। भूतों के विषय में जो दया उस के मन में जागती है उस के कारण द्वेष की जड़ वहाँ जमने नहीं पाती। वही दया शत्रु, मित्र, पुत्र, बंधु सबों को एक ही स्वरूप से देखती है। उस का मन, बुद्धि, काया, वाचा चारों शुद्ध रहती हैं। जहाँ देखो वहाँ परमेश्वर-स्वरूप देख कर वह सर्वत्र लीनता धारण करता है, सब प्रकार से अपने को छोटा मानता है। वह 'मैं' और 'तू' के भाव से अपरिचित हो जाता है। अर्थ, काम, मान, अपमान, मोह इत्यादि बातों की वह चिंता भूल जाता है। सब समझ कर भी वह अनजान सा पूर्ण समाधान में रहता है। उस का ईश्वर पर दृढ़ विश्वास होता है। कोई भी काम करने या न करने का हठ वह नहीं करता और ज्ञान से कँदरा कर बच्चे की नाईं दुनिया में वास करता है। बस वही साधु है।

साधु-संत कैसे होते हैं इसी के वर्णन के साथ वे कैसे नहीं होते इस का भी आप ने बड़ा अच्छा विवरण दिया है। कवित्व करने से संत नहीं बनते हैं, या किसी दूसरे किसी संत के भाई-बंद भी संत नहीं हो सकते। हाथ में तुंबा लेने से या पीठ पर गूदड़ी ओढ़ने से संत नहीं बनते। संत होने के लिए न पुराण बाँचने की आवश्यकता है, न कीर्तन करने की। न वेद-पाठ की न कर्माचार की जरूरत है। तप, तीर्थ-भ्रमण, वनवास, किसी से भी कोई संत नहीं होता। संत को न माला पहननी पड़ती है, न मुद्रा लगानी, न विभूति रमानी। खाली संत कहलाने से संत नहीं होते। यहाँ तो असली परीक्षा देनी पड़ती है। जब तक मन का संदेह न मिटा तब तक कोई संत नहीं है। तुकाराम के मत से वे सब

सांसारिक हैं। संतो का मुख्य लक्षण लीनता है, अभिमान नहीं। वहाँ तो न ज्ञान का गर्व है, न कर्म का, न जाति का। सत बनने के लिए बोलने की आवश्यकता नही। वहाँ तो काम कर के दिखाना पड़ता है। जो स्वय कर के बतलाता है, वही साधु है। कोरी बाते करनेवाला साधु नही हो सकता। साधुता बाजार में मोल नही मिलती। जंगल मे रहने से भी उस की प्राप्ति नही होती। वह न आकाश मे है न पाताल में। धन के ढेर होने से उस की प्राप्ति नही होती। उस के लिए तो अपनी जान खर्च करनी पड़ती है तब वह मिलती है, और जब मिलती है तब दूसरे के पास नही वरन अपने ही पास मिलती है।

सत कैसे होते हैं, और कैसे नही, इस का विवरण हो चुका। अब यह देखे कि साधु लोग क्या करते हैं? इन साधु-सतो का जो आद्य लक्षण लोगो को नजर आता है, वह है निर्भयता। वे किसी से डरते नहीं। जो सच है उस के कहने मे ये जरा भी हिचकते नही। भगवान् के दास, और उन्हे किसी का भय! यह विचार ही विसगति का उदाहरण है। बड़ी वीरश्री के साथ श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं—

देख वैष्णवों का नूर। जमदूत भागे दूर।
आए आए वैष्णव वीर। काल काँपे क्या असुर?
गरुड़ पताको का भार। भूमि गर्जत जय-जयकार॥
तुका कहे कलिकाल। भाग जावे देख बल॥

इन विठ्ठल वीरो के सम्मुख काल ठहर ही नही सकता। इन के मुख से जो जय-जयकार का घोष सुनाई पड़ता है उस से दोषो के पहाड़ के पहाड़ फूट जाते हैं। सब पृथ्वी पर इन की अपेक्षा कोई बलवान् नहीं, क्योकि दया, क्षमा और शाति के अभग बाण इन के हाथों में होते हैं जिस के सामने किसी का कुछ नही चलता। जो मन में वैर ठान कर आता है, वही मित्र बन कर वापस जाता है। इसी निर्भयता के आधार पर सत परोपकार या भूत-दया का अपना मुख्य कर्त्तव्य करते हैं। सतों की दूकान दिन-रात खुली रहती है। जो कोई जो कुछ माँगने आवे, फौरन् वह चीज उसे मिल सकती है। आप का भडार सदा भरपूर रहता है। माँगनेवाले की तो इच्छा पूरी हो ही जाती है, पर उस की इच्छा पूरी होने पर भी इन के भडार में के थैले में कुछ भी कमी नहीं पड़ती। और कमी पड़े भी क्यों? जो इच्छुक बन कर आता है, वही स्वय निरिच्छा हो कर दूसरों की इच्छाएँ पूरी कर देने में समर्थ बन जाता है। जब याचना की इच्छा ही नही रह जाती तो वह बिचारा लेवे भी क्या? सब इच्छाओं को पूरा करनेवाला परमेश्वर ही सत-सज्जनों की कृपा से मिल जाता है, तब और कुछ मिलना बाक़ी ही कहाँ रहता है? फिर तो यह पृथ्वी ही बैकुठ बन जाती है। जिधर देखो, उधर प्रेम की लहरें उठने लगती हैं, और पाप, दुर्बुद्धि इत्यादि बाते तो ढूँढ़े भी नहीं मिलतीं। कैसे भी दोषी क्यों न हों? संत तो उन्हे पवित्र ही बना देते हैं। इन की दृष्टि से अशुभ भी शुभ हो जाता है। पाप, ताप, दारिद्रय तीनों एक साथ ही नष्ट होते हैं। गंगाजी पाप दूर करती हैं, चद्रमा ताप को हटाता है और कल्पवृक्ष के कारण दारिद्रय चला जाता है। पर सत-सज्जन लोग ये तीनों बातें एक साथ ही कर डालते हैं। संसार-समुद्र उतर जाने के लिए यह एक ऐसी नाव है कि इस पर चढ़ते समय

या इस मे से उतरते समय न हाथ भीगता है न पैर। समूचे ससार के विदु का भी स्पर्श न होते हुए आप उसे आनद से पार कर सकते हैं। इन महानुभावो का दर्शन होने ही चित्त को समाधान मिलता है और सारी चिताएँ दूर भाग जाती हैं। तुकाराम जी सतो के लिए सदा चदन की उपमा देते हैं। शोभा, सुगध और शीतलता ससार मे फैलाने के लिए ही चदन का जन्म है। उसी प्रकार सुख, धर्म और भक्ति की बृद्धि करना ही सतो का पवित्र कार्य है। दुखी, अधर्मी और अभक्त लोगो को उबारने के लिए ही सतो का अवतार है। ईश्वर का ज्ञान सत ही कराते हैं। हठ से परतु प्रेम से ये लोग साक्षात् जनस्थ जनार्दन का अनुभव करा देते हैं। इन की सादी बोली भी हितकारिणी और उपदेशदायिनी होती है। किसी बात की अपेक्षा न रख कर और बडे कष्ट उठा कर ये अज्ञ-जनो को सिखाते हैं। गाय जिस प्रेम से बछडे को चाट-चाट कर साफ करती है, वैसे ही ये अज्ञ-जनो को अपनी सुधामयी वाणी से अपना कर पवित्र करते हैं। सोते हुए जीवो को ये एक से जगाते रहते है और चदन की नाई लोगो को भी अपने जैसा ही बना देते हैं। चदन के आसपास बेर, बबूल के भी पेड़ क्यो न हो, चदन के साथ रहने के कारण वे जैसे सुगधित हो जाते हैं या किसी राजा के पास रहने से जैसे गरीबों को भी सन्मान मिलता है, उसी तरह जाति-पॉत, गुण-दोष किसी का भी प्रतिबध न होने के कारण, केवल सत्सगति से ही मनुष्य साधु हो जाता है।

सतों के विषय मे श्रीतुकाराम महाराज की यह भावना होने के कारण जब कभी आप को सत-समागम का सुअवसर आता, तब आप के आनद की सीमा न रहती। आप बडे प्रेम से उन का स्वागत करते और उन के समुख बड़ी लीनता से बरतते। इस लीनता के विषय मे तो आप की हद थी। आप उन के चरणो पर गिरते, उन की चरण-धूलि माथे पर लगाते, उन के मुख से किसी बात के निकलने की ही देर रहती कि आप उसे पूरी कर डालते। उन की पादुकाओं को कधे पर उठाते, उन के रहने के स्थान स्वयं झाड़ कर साफ करते। एक अभग मे तो आप ने यहाँ तक कह दिया कि सतो का जूठन भी बड़े भाग्य से खाने को मिलता है। अगर वह थोड़ा भी प्राप्त हो, तो पेट सदा के लिए भर जावे। यहाँ पर वाच्यार्थ के साथ व्यग्यार्थ क्या है, यह दूसरे एक अभग मे स्पष्ट हो जाता है। 'व्यासोच्छिष्ट जगत्सर्व' जिस अर्थ मे कहा जाता है, उसी अर्थ मे उच्छिष्ट शब्द यहाँ पर व्यग्यार्थ से प्रयुक्त है। सतो के मुख से बाहर पडे हुए शब्दो का ही अर्थ यहाँ पर व्यग्य है। यह कहने की आवश्यकता नही कि सतबानी के थोड़े से भी सेवन से ससारी मनुष्य की क्षुधा-तृषा दूर हो जाती है। इतनी लीनता धारण करने पर भी यदि कोई साधु-पुरुष आप की स्तुति करता, तो आप उसे फौरन् ही रोक देते। आप कहते कि "संतों को मेरी स्तुति न करनी चाहिए। क्योंकि उस तारीफ के कारण मुझे जो गर्व होगा, उस के बोझ से यह भव-नदी पार करने मे मुझे बड़ी कठिनाई पडेगी और फिर उतना ही मैं आप लोगो के चरणो से दूर हूँगा। गर्व मेरे पीछे हाथ धो कर लगेगा और मेरे विठोवा से मुझे दूर ले जावेगा।" अगर कोई सज्जन आप को सत कहता तो आप उसे उत्तर देते कि "मुझे यह क़ीमती जेवर सुहाता नहीं है। न तो मैं भगवत्स्वरूप को पहचानता हूँ, न क्षर को, न अक्षर को। इस बात का तो मुझे ज्ञान ही नही है कि आत्मा क्या चीज है और अनात्मा क्या? मैं तो

केवल आप के चरण की धूल हूँ, संतों के पैर की जूती हूँ और केवल संतों के पैर की सेवा करना ही जानता हूँ।" एक अभंग में तो आप ने इतनी स्पष्टता से आत्म-स्थिति का वर्णन किया है कि कुछ कह नहीं सकते। आप ने साफ-साफ कहा है कि "पत्थर पड़े मेरे अभिमान पर और जल जाय मेरा नाम! मेरे पाप के पहाड़ों की सीमा ही नहीं है। इस भूमि पर मैं केवल भार-भूत हूँ। अपनी फजीहत क्या और किस से कहूँ? मेरे दुःख से तो पत्थर भी फूट जावेंगे। क्या स्त्री, क्या पुरुष सभी भले-बुरे लोगों से मुझे अपना मुख छिपा ही रखना चाहिए। शरीर, वाणी तथा मन, उसी प्रकार आँख, हाथ, पैर सभी के द्वारा कभी निंदा, कभी द्वेष, कभी विश्वासघात, कभी व्यभिचार और क्या-क्या कहूँ सभी प्रकार के पाप हुए हैं। जब लक्ष्मी की थोड़ी-बहुत कृपा थी, तब तो मेरे हाथों से कई पाप हुए हैं। दो स्त्रियाँ रहने के कारण भेद-भाव से भी मैं बचा नहीं हूँ। पिता की आज्ञा का अवमान भी मैं ने किया। अविचार, कुटिलता, निंदा, वाद इत्यादिकों को बखानते तो जीभ तक हिचकती है। दिल तो काँप ही उठता है। भूतदया और उपकार के तो शब्द भी मैं मुख के बाहर नहीं निकाल सकता। मेरी विषय-लंपटता के विषय में तो कुछ कहने की ही आवश्यकता नहीं। इस लिए संतो, आप ही मेरे मा-बाप हो, आप ही की कृपा से मैं ईश्वर के पास जा सकता हूँ, अन्यथा नहीं।" श्रीतुकारामजी का जीवन-वृत्तांत पढ़े हुए पाठकों से यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जीवन की किन किन घटनाओं को लक्ष्य में रख कर तुकाराम जी ने यह अभंग लिखा है। धन्य है इस स्पष्टता को और धन्य है ऐसे कठोर आत्म-निरीक्षण को! सामान्य जनों में और महात्माओं में यही मुख्य भेद है।

वैष्णव, भगवद्भक्त या संत-सज्जनों के विषय में श्रीतुकाराम महाराज की बड़ी भक्ति थी। आप इन लोगों को ईश्वर से कम न समझते थे। इसी लिए परमेश्वरभक्ति के बराबरी का स्थान आप ने सत्संगति को दिया है। देव और भक्तों का संबंध आप ने एक जगह बड़े अच्छे प्रकार से दिखाया है। परमेश्वर को अवतार क्यों लेना पड़ता है? 'परित्राणाय साधूनाम्' अर्थात् संत-सज्जनों का रक्षण करने के लिए। बिना भक्तों के ईश्वर का माहात्म्य कैसे बढ़ सकता है? इस प्रकार दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। भक्तों को सुख की प्राप्ति अपने ईश्वर की सेवा से होती है, तो ईश्वर को सब प्रकार के सुख भक्तों द्वारा ही मिलते हैं। ईश्वर ने भक्तों को देह दिया तो भक्तों ने भी ईश्वर को सगुण साकार बना दिया। इस प्रकार देखा जाय तो एक ही वस्तु के ये दो अंग हैं। स्वामी के बिना सेवक को कौन पूछेगा? पर सेवक ही न हो तो स्वामी कहाँ से कहलाएगा? यही स्थिति देव-भक्तों की है और इसी लिए तुकाराम महाराज देव-भक्तों को एक-सा ही महत्व देते हैं। जहाँ देव और भक्त का समागम हुआ, वहीं भक्ति की गंगा बहने लगी और आस-पास के लोग उस गंगा से पवित्र होने लगे। जिन भगवद्भक्तों के हृदय में नारायण बँधा हुआ है वे किस बात में कम हैं। धन, विद्या, कुल इत्यादि सभी बातों में उन की बराबरी कोई नहीं कर सकता। भीतर-बाहर सभी प्रकार से वे मधुर रूप हैं। उन के तेज के लिए न उदय है न अस्त। वह तो सदा एक-सा ही रहता है। अब यदि ऐसी भावना रखनेवाले के सम्मुख कोई संत-निंदा करे तो उस पुरुष को कितना बुरा

लगेगा ? परतु आप के भाग मे तो सत-निंदा सुनना रोज के रोज और घर-घर मे ही बदा था। सत-निंदकों पर कई बार आप के मुख से इसी कारण बड़ी फटकारे निकलतीं। जो कोई सतो को दुःख देगा उस का भला तीनो लोक मे न होगा। वह केवल संतो का ही नहीं पर साक्षात् ईश्वर का भी शत्रु है। पृथ्वी भी उसे रहने के लिए स्थान देने मे हिचकती है। सतों के वाक्यो पर जिस का विश्वास न हो, उस के दोष न मालूम कितने बढ़ गए हैं। उपमा दे कर आप कहते कि गाय का दूध निकालना हो तो वत्स की ही शरण लेनी पड़ती है। यदि बछड़े के साथ कोई बुरे भाव से बरते, तो गाय भी उसे मारने दौड़ती है। इसी प्रकार भगवद्भक्त सतो का शत्रु केवल देव का ही नहीं वरन् अखिल विश्व का शत्रु बन जाता है। पति के मरने पर जैसे स्त्री का कुल, ससार, रूप, गुण, सभी व्यर्थ हो जाते हैं, वैसे ही भक्तो को दूर करने पर दुनिया की हालत होती है। यदि फलों की रक्षा करना हो, तो मूल को ही सींचना चाहिए। इसी तरह यदि सब प्रकार से अपना भला चाहो तो सतो की ही सगति साधनी चाहिए। बिना सत सेवा के ईश-प्राप्ति का मेवा मिलना असभव है।

अब यह देखे कि तुकाराम महाराज सत्सगति का क्या फल बतलाते हैं। जिस सत्पुरुष को यह अनुभव हुआ कि सारा ससार ईश्वर स्वरूप है वही सत है, और उसी के पास ईश्वर वास करता है। उस के दर्शन से सब पाप नष्ट होते हैं। काम-क्रोधादिकों को वहाँ तक पहुँचने की ही ताकत नहीं रहती। सब भूतों के विषय मे उस की समबुद्धि हो जाती है। वहाँ पर न भेद रहता है न सशय। जिस शका ने सब जगत् को खा डाला है, उस शका को भी सत्पुरुष खा डालता है। सदेह की गाँठ उस के हाथ पड़ते ही छूट जाती है। ऐसे सत के समागम से दूसरो की संसार-तप्त देह शीतल हो जाती है। उन की दुष्ट बुद्धि का नाश होता है और अत मे सत्संगति के कारण वे स्वय भी सत हो जाते हैं। जिस प्रकार आग मे गई हुई चीज आग ही बन जाती है, पारस के स्पर्श से लोहे का सोना हो जाता है, छोटा-सा नाला गगा जी के प्रवाह मे मिल कर गगा-रूप बन जाता है, चदन की सुगधि से दूसरे पेड़ भी चदन के-से सुगधित होते हैं, उसी प्रकार, तुकाराम महाराज कहते हैं कि सतों के पैरो पर पड़ा हुआ पुरुष द्वैत भाव का त्याग कर सत-स्वरूप ही हो जाता है। न उस का पहला नाम बाकी रहता है, न पहला गुण। हिंदू तत्वज्ञान के अनुसार ब्रह्मज्ञान के आनद से बढ़ कर कोई आनद नहीं हैं। आनद-बल्ली नामक उपनिषद् मे आनदों का वर्णन किया है। उपनिषत्कार ने लिखा है—"यदि कोई मनुष्य तरुण हो, अच्छा पढा-लिखा विद्वान् हो, बल-सामर्थ्य से युक्त हो और सारी धन-भरी पृथ्वी उस के वश में हो, तो उस मनुष्य को जो आनद होगा, वही मानुषी आनद है अर्थात् मनुष्य के आनद की सीमा है।" ऐसे सौ मानुषी आनद एक मनुष्य गधर्व के आनद के बराबर हैं। इसी शतगुणित क्रम से बढ़ते-बढते देवगधर्व, पितर, कर्मदेव, देव, इद्र, बृहस्पति, प्रजापति, इन के आनद हैं। अंत में प्रजापति के सौ आनदो के बराबर एक ब्रह्मानद कहा गया है। परतु दुःख की यह अतिम सीमा सत्सगति से सहज में प्राप्त होती है। तुकाराम कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का अत्यत सुलभ उपाय सत्सगति है। सत सज्जनों के चरणरज का स्पर्श होते ही वासना

का बीज जल जाता है। वासना-रहित चित्त होने पर श्रीराम-नाम का प्रेम उत्पन्न होता है और प्रतिक्षण सुख की बाढ होती जाती है। गला भर आता है, आँखों से प्रेमाश्रु की धाराएँ बहने लगतीं है और अतःकरण मे रामचद्र जी का स्वरूप प्रकट होता है। इस साधन का-सा सुलभ कोई अन्य साधन नही, पर इस की प्राप्ति बिना पूर्वपुण्य के नही होती। अर्थात् जिस किसी को सत्सग का लाभ हो उस के पूर्व-पुण्य का अनुमान कर लेना चाहिए। इस प्रकार के ब्रह्मज्ञान से जो आनद होता है वह ब्रह्मादिक देवताओं को भी दुर्लभ है। क्योकि इस में निराकार निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान होते भी सगुण भक्ति बनी ही रहती है। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करने मे इस प्रकार कष्ट नही उठाने पड़ते हैं। यह ब्रह्मज्ञान स्वय ही सतो के पास आता है। लक्ष्मी को खोजनेवाले मनुष्य को वह प्राप्त हो या न हो, पर जिसे स्वय लक्ष्मी खोजती हुई आती है वह उस से वचित कैसे रह सकता है? ठीक इसी तरह ब्रह्मज्ञान सत सज्जनो को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते स्वय आता है। ऐसे ब्रह्मज्ञान से प्राप्त आनद को कौन बखान सकता है? बखानने की तो बात अलग रही, उस की कल्पना भी तब तक नही आ सकती जब तक कि उस का स्वय अनुभव न हो। और जिसे अनुभव आता है वह उस अनिर्वाच्य मे ऐसा मगन हो जाता है कि मुख मे शब्द भी निकालने मे असमर्थ हो जाता है।

इस प्रकार का ब्रह्मानद जिसे हो गया और सत्सग के कारण सगुण-भक्ति निश्चल रख कर जिस ने 'हरि' को अपना मित्र कर लिया, उस के घर के आँगन मे बबूल के पेड़ भी कल्पवृक्ष बन जाते हैं। वह जिस राह से जाता है वहाँ के छोटे-छोटे ककड़ भी चितामणि होते हैं। इन हरिभक्तो के ज्ञान की महिमा कौन कह सकता है? इन का दर्शन भी दुर्लभ है, पर तुकाराम पर ऐसे सतो की ऐसी कृपा हुई कि उन के शब्दो का वेदात-शास्त्र अनुयायी हो गया। इस से बढ कर सत्सग का वर्णन क्या हो सकता है? इस लिए इस विषय को अब यहीं पर समाप्त करना चाहिए।

चतुर्दश परिच्छेद

ईश्वर-भक्ति

सत-सज्जनों के विषय मे श्रीतुकाराम महाराज की जो कल्पनाएँ और विचार थे, उन का विवरण गत परिच्छेद मे दिया गया है। इस परिच्छेद मे इस बात पर विचार करेंगे कि श्रीतुकाराम महाराज की ईश्वर-विषयक कल्पनाएँ क्या थीं, सत्यस्वरूप परमेश्वर का यथार्थ ज्ञान होने पर भी आप की सगुण-भक्ति कैसे बनी रही, तथा सगुणस्वरूप मे भी किस रूप के और भक्ति-प्रकार मे से किस प्रकार के वे प्राधान्य देते थे।

श्रीतुकाराम जी के मत से सारा ससार तीन रूपो मे विभक्त था। जड़सृष्टि, चैतन्ययुक्त जीव, और ईश्वर। ईश्वर जड़सृष्टि तथा सचेतन जीवो का अतर्यामी अर्थात् अतः सचालक है। यह दोनो प्रकार की सृष्टि, जो उसी की इच्छा से निर्मित हुई है, ईश्वर की देहस्वरूप है और ईश्वर इस देह का आत्मा है। सृष्टि उत्पन्न होने के पूर्व, ईश्वर अत्यंत सूक्ष्म-रूप से रहता है। जैसे देह के विकारादि आत्मा के विकृत नही कर सकते, वैसे ही जड़, सृष्टि तथा जीवो के गुणो से ईश्वर स्वरूप विकृत नही होता। वह सब दोषो से तथा अवगुणो से अलिप्त रहता है। वह नित्य है, जीवों तथा जड़-सृष्टि मे ओत-प्रोत भरा हुआ है, सबों का अतर्यामी है और शुद्ध आनद-स्वरूप है। ज्ञान, ऐश्वर्य इत्यादि सद्गुणों से वह युक्त है। वही सृष्टि के निर्माण करता है, वही उस का पालन करता है तथा अत मे वही उस का सहार भी करता है। भक्तजनो का वह शरण्य है। उस के गुणो का आकलन न होने के कारण ही उसे अगुण या निर्गुण कह सकते हैं। एक अभग मे आप ने लिखा

है कि—"उस के गुणों का वर्णन कहाँ तक किया जा सकता है ? उस की बड़ाई की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जिसे बखानते-बखानते वेद भी चुप हो रहे, मन की भी सामर्थ्य लँगडी पड़ गई, और जिस के तेज से ही चद्र और सूर्य प्रकाशमान हो रहे हैं, वहाँ तक पहुँचने की जीव की सामर्थ्य ही कहाँ ? जब कि शेष भी अपनी हजार जिह्वाओं से उसे वर्णन करने को निकला, तब वह भी विचारा थक गया। उस की जिह्वाएँ एक-एक की दो-दो होगईं, पर फिर भी गुणों का वर्णन न कर सकी। अत मे वह लज्जित हो कर भगवान् की शय्या बन गया। फिर सामान्य जीव की क्या कथा ?"

श्रीशकराचार्य जी का पूर्ण-द्वैत तथा मायावाद कुछ सीमा तक आप मानते थे, आगे नहीं। उदाहरणार्थ जब आप ऐसा कहते है कि "मिश्री का डला और पिसी शक्कर इन मे सिर्फ नाम का फेर है। दोनो की मिठास देखी जाय तो कुछ भेद नहीं। पैर, हाथ, नाक, सिर इत्यादि स्थानो के अलकारो मे नाम का ही भेद है। पर गलाने के बाद सब सोना एक-सा ही है। स्वप्न मे जो 'हानि, लाभ, जीवन, मरण,' इत्यादि ज्ञान होते हैं, वे तब तक ही सच जान पडते हैं, जब तक निद्रा का प्रभाव शरीर पर रहता है। पर जागने पर देखा जाय तो दोनो झूठ हैं। इसी प्रकार, हे पाडुरग, तुम मे और हम मे क्या भेद है ? तुम्हीं ने जगत् को उत्पन्न किया है, और इसी के कारण मै और मेरा ये दोनों भाव पैदा हुए हैं।" यहाँ पर पहले दो उदाहरण परिणामवाद के हैं, जिसे शंकराचार्य नही मानते, पर तीसरा स्वप्न-दशा का उदाहरण विवर्तवाद का है जो आचार्य जी के मत से पूर्णतया मिलता है। इसी तरह जब आप कहते हैं कि "पानी में नमक मिला दो, वहाँ क्या बाकी रहेगा ? आग और कपूर मिलाए जावे तो वहाँ कौन-सी काली चीज बाकी रह सकती है ? तुकाराम की और तुम्हारी, हे नाथ, एक ही ज्योति थी। जब मैं आनद से तुम से एक रूप होता हूँ तो मैं पूर्णतया तुम में स्वय को भूल जाता हूँ।" यहाँ पर अद्वैत-सा मालूम होता है। पर यह आचार्य जी का पूर्णाद्वैत नहीं है। 'देह-भान भूल जाने पर जो समाधि-वृत्ति मनुष्य को किसी काम मे लगने से प्राप्त होती है, उसी का यह वर्णन है।' तुकाराम ऐसे भगवद्भक्त तत्वज्ञान का अभ्यास शास्त्रदृष्टि से नहीं करते हैं। वे जब ईश्वर से ऐसा प्रेम करते हैं जहाँ 'मैं भक्त और तुम देव' का भाव अशक्य होता है, ऐसे तत्वज्ञान से उन्हे प्रेम ही नहीं रह सकता।

भक्ति-रहित ज्ञान, अद्वैत-ज्ञान पर आप ने खूब ही फटकार दिखाई है। आप का मत है कि "जो भक्ति-रहित सूखे ज्ञान का निवरण करता है, उस के शब्द भी न सुनने चाहिए। यदि कोई भक्ति-भाव को छोड़ केवल अद्वैत को ही समझाता है तो समझानेवाला, वक्ता तथा समझनेवाला श्रोता दोनों दुःख के ही अधिकारी होते हैं। 'अह ब्रह्म' 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा कहते हुए भी जो अपनी उपजीविका कर अपने पिंड का पोषण करता है, उस बकवाद करनेवाले से न बोलना ही ठीक है। ईश्वर को छोड़ जो निर्लज्ज पुरुष पाखड-मत का प्रतिपादन करता है, उस का सज्जनों के समाज मे काला मुख होता है। ईश्वर और भक्तों में जो संबंध है उसे जो तोड़ डालता है, उस से तो कुत्ते का मास खानेवाला चाडाल भी अच्छा है।" यहाँ पर भक्ति को न माननेवाले अद्वैत ज्ञान की खूब ही निंदा है। इस

प्रकार का अद्वैत ज्ञान आप को कभी नहीं भाता। आप कहते हैं—"मेरे लिए अद्वैत ज्ञान में समाधान नहीं है। मुझे तो तेरे चरणों की सेवा ही भाती है। इस लिए योग्य समझ कर तू मुझे यही दान दे कि मुझे सर्वदा तेरा नाम और तेरे गुणों का कीर्तन ही प्यारा रहे। देव और भक्त का भाव अत्युच्च आनद का साधन है। इस लिए मुझे अपने से भिन्न ही रख कर उस आनंद का आस्वाद लेने दे। यह सब जो कुछ दिख रहा है, सब तेरा ही है। किसी रोज तो मुझ पर यह प्रसाद हो।" यहाँ तत्वज्ञान से विरोध करते हुए भी आपने मनोगत ईश्वर-भक्ति के आनद की शरण ली है। अपने हृदय की भावनाओं को तुकाराम ऐसे सत्पुरुष सर्वदा ही अधिक मान देते हैं।

मायावाद को मानते हुए भी आप का मत था कि केवल ज्ञान से माया दूर नहीं हो सकती, ईश्वर की कृपा से ही हो सकती है। आप कहते हैं—"ससार झूठ है और माया से भरा है, यह समझ कर भी मुझे विवेक नहीं होता। मुझे फिर भी यह बाजीगरी या नजरबदी सच ही मालूम होती है। विचार करता हूँ तो यहाँ कुछ भी दिखाई नहीं देता, पर मुझे दुःख तो इस बात का है कि इस से छुटकारा भी नहीं होता और छुटकारे का कोई उपाय भी नहीं दीखता। आगे मेरा क्या होगा, कुछ समझ मे नहीं आता। इस लिए, हे नाथ, आप के पैरो पर माथा रखता हूँ। अब जो कुछ आप को करना हो, मजे से कीजिए। मैंने तो एक आप को ही दृढ़ पकड़ लिया है। मुझे तो सूझता ही नहीं कि मेरा हित किस मे है। अब तो आप ही मेरी नैया पार लगा सकते हैं।" एक और अभंग में आप ने लिखा है—कि "जहाँ ब्रह्म तहाँ माया और जहाँ माया तहाँ ब्रह्म है। दोनों ऐसे सबद्ध हैं जैसे देह और उस की छाया। यदि इसे कोई दूर करना चाहे तो वह कभी अलग नहीं होती। पर जैसे नीचे लेटने पर छाया अग से बिल्कुल एक रूप होती है, उसी प्रकार ईश्वर की पूर्णतया शरण जाने से ही इस माया का लोप हो सकता है। अन्यथा नहीं। दूसरी कुछ भी सामर्थ्य वहाँ पर काम नहीं आती। विचारो के प्रयत्न तो वहाँ निष्फल ही होते हैं। मनुष्य जितना ऊँचा होता है उतनी ही यह माया बढती जाती है, और वह जितना नम्र होता है, उतनी ही वह भी कम होती जाती है।" बस, इसी मनःस्थिति का नाम शरणागति है।

तुकाराम जी के मत से भक्ति के लिए कर्म तथा ज्ञान दोनो की आवश्यकता थोड़ी-थोड़ी अवश्य है। पर इन कर्म तथा ज्ञान शब्दो के अर्थ भिन्न हैं। 'कर्म' शब्द से यज्ञ-यागादि वेदविदित कर्म का लक्ष्य नहीं है पर कर्तव्यपालन, ईश्वर-सेवन, एकादशी-व्रतोपवास, पढरपुर की वारी और दान ये कर्म विहित हैं। परतु ये सब कर्म अनासक्ति-पूर्वक अर्थात् उन के फल की इच्छा न रखते हुए करने चाहिए। इन कर्मों के आचरण से चित्त-शुद्धि होती है। कर्तव्य-पालन के विषय में आप कहते हैं—"स्वामि-कार्य, गुरु भक्ति, पित्राज्ञा-पालन, पति-सेवा इत्यादि भिन्न-भिन्न कर्तव्यो का पालन यही विष्णु-पूजन है। सत्य-वचन और पर-दुःख से दुःखित होना बडे महत्व का है, और श्रद्धा-पूर्वक प्रयत्न कर के उस से इष्टफल-प्राप्ति कर लेना, यही मनुष्य का प्रधान कर्तव्य है।" इन कर्मों से चित्त-शुद्धि होने के बाद मनुष्य को ज्ञान-प्राप्ति होती है। 'ज्ञान' शब्द का अर्थ श्रीतुकाराम जी के मत

से अपने के पहचानना, अर्थात् जीव-सृष्टि में और जड़-सृष्टि मे जो चैतन्य खेल रहा है वही अपने देह मे है, इस बात के पहचानना है। अनासक्त कर्म और जीवशिव तत्व-ज्ञान के बाद मनुष्य के चित्त में भगवद्भक्ति उत्पन्न होती है। इस भक्ति का प्रधान लक्षण शरणागति है। इस मनःस्थिति के लिए आत्म-समर्पण की अत्यत आवश्यकता है। 'मेरे किए कुछ नहीं होता। जो कुछ होता है ईश्वर की इच्छा से ही होता है। वह अनाथो का नाथ और पतितों का पावन है। वही कैसे भी पापी का उद्धार कर सकता है। ससार मे सुख नही पर दुःख ही दुःख भरे हुए है। इन दुःखों से छुटकारा पाने का एकमात्र मार्ग ईश्वर पर भार डाल उस की शरण जाना है।' इसी शरणागति में सुख है। 'ईश्वर मेरा उद्धार करनेवाला है' यह दृढ़ श्रद्धा ही भक्तो के सब प्रकार की भीतियों से निर्भय कर देती है। अर्थात् भक्त के ईश्वर की प्रार्थना करने के सिवाय और कुछ काम नही रहता। ईश्वर का पूजन, उसी का स्मरण, उसी के गुणो का कीर्तन और उसी का दर्शन, भक्त का प्रधान कर्तव्य-कर्म हो जाता है। श्रीतुकाराम महाराज जी ने अनासक्त कर्म कैसे किए, तथा उन्हे ईश्वर-ज्ञान कैसे हुआ, इत्यादि बाते पूर्व परिच्छेदो में दिखलाई जा चुकी हैं। अब केवल ईश्वर-स्वरूप का ज्ञान होने पर आप ने नाम-स्मरण कीर्तन तथा पढरी की वारी के विषय में जो कुछ लिखा है, उसे ही देखना है।

महाराष्ट्र के भागवत-धर्म का कार्य पूर्व-परिच्छेदों में दिया ही है। इस धर्म का प्रसार होने के पूर्व ईश्वरोपासना का कार्य ब्राह्मणादि लोगो तथा सस्कृत-भाषा के द्वारा ही होता था। ज्ञानेश्वर तथा एकनाथ प्रभृति सतों ने भगवद्गीता, रामायण तथा भागवत इत्यादि ग्रथो पर प्राकृत-भाषा में टीका लिख कर सस्कृत-भाषा न जाननेवाले लोगो के लिए आत्म-ज्ञान का मार्ग खोल दिया था। परतु फिर भी इन ग्रथों द्वारा शिक्षित लोगो की ही ज्ञान-लालसा तथा मुक्ति-पिपासा शांत हो सकती थी। अशिक्षित कृषको से सामान्य जनों के लिए ये ग्रथ भी दुर्बोध ही थे। इन की काव्य-पूर्ण भाषा, उन में प्रतिपादित वेदातादि शास्त्रो के सिद्धात, इन लोगो की ग्रहण-शक्ति के बाहर ही थे। इन में नामदेव प्रभृति भक्तों के भक्तिरस में सने हुए चुटकुले अभग ही अधिक प्रिय थे। श्रवण, कीर्तन, नाम स्मरण इत्यादि नव-विधि भक्ति मे नाम-स्मरण का भी एक प्रकार था। परतु इस नाम-मंत्र का भी प्रायः किसी गुरु द्वारा ही उपदेश दिया जाता था। ये गुरु प्रायः 'वर्णाना ब्राह्मणो गुरुः' वचनानुसार प्रायः ब्राह्मण-जाति के ही रहते थे। इस लिए संस्कृतज्ञ की दृष्टि से यद्यपि ब्राह्मणों का महत्व कम हुआ तथापि इस गुरुत्व की दृष्टि से बढ़ा ही रहा था। श्रीतुकाराम महाराज के उपदेश का परिणाम यह हुआ कि इस 'गुरुडम' के बधन से सामान्य लोग छूटने लगे। नामधारी गुरु ध्रुव पर आप ने ख़ूब ही फटकारें लगाई हैं। यहाँ तक कहने को कम नहीं किया कि "गुरु-गुरु कह कर अपने चारो ओर शिष्यों का भार जमानेवाले लोग 'गुर्गुरु' करनेवाले कुत्तों से हैं। फ़र्क़ यही है कि इन के चार पैर और पूँछ नहीं हैं। पर-स्त्री और मद्यपान के बाँट का सेवन करते-करते ये लोग नरक में जाने के लिए दत्त-चित्त हैं।"

श्रीतुकाराम महाराज ने नाम-स्मरण की मीमासा बड़ी अच्छी रीति से की है।

आप का कथन है कि यदि परमात्मा निर्गुण निराकार है और यदि माया नाम रूपात्मक है, तो ईश्वर का स्मरण किसी नामरूप से क्यो न हो, वह मायाच्छादित ही है। अर्थात् इस नामरूप को ऐसा महत्व नही, जिस के लिए गुरु की आवश्यकता हो। और यदि हो भी तो माया के-से झूठ-मूठ स्वप्न मे भी वह मिल सकता है। उस के लिए किसी ढोंगी गुरु के पास जाने की आवश्यकता नही। ईश्वर के नामरूपो मे से किसी रूप में या किसी नाम से उस का चितन या स्मरण हो सकता है। नामरूप की आवश्यकता केवल चित्त की एकाग्रता करने के लिए आवश्यक है। तीर मारने के लिए जिस प्रकार किसी लक्ष्य को सामने रख चाँदमारी का अभ्यास किया जा सकता है, उसी प्रकार चित्त की एकाग्रता के लिए कोई भी ईश्वर नाम पर्याप्त हो सकता है। राम, कृष्ण, हरि, केशव इत्यादि सस्कृत नामों से से ले कर विठ्ठल, पांडुरग इत्यादि प्राकृत नामो तक का कोई भी नाम काम दे सकता है। केवल उस नाम की आड़ मे सर्व-शक्तिमान् भक्तवत्सल ईश्वर की कल्पना आवश्यक है। जब तक यह कल्पना और शरणागति की मनःस्थिति विद्यमान है तब तक चाहे जिस नाम का स्मरण करो, फल एक-सा ही है। इसी कारण नाम-स्मरण का माहात्म्य कहते हुए श्रीतुकाराम महाराज किसी एक नाम पर जोर नही देते। स्वाभाविक रीति से विठ्ठल नाम उन के मुख से अधिक निकलता है, पर दूसरे नामो से उन का विरोध नहीं है।

नाम-स्मरण की भक्ति के श्रीतुकाराम जी जिन कारणो से महत्व देते थे या यों कहना अधिक ठीक होगा कि जिन कारणो के दिखा कर आप लोगों के नाम-स्मरण में प्रवृत्त कराते थे, निम्न प्रकार के है। आप ने इस बात का स्वय अनुभव कर लिया था कि नाम-स्मरण से क्या लाभ होता है। एकाग्र चित्त करने के लिए इंद्रियों के स्थिर करना होता है। वाग् या जिह्वा ज्ञानेंद्रिय तथा कर्मेंद्रिय है। और इसे वश में रखने के लिए नाम-स्मरण से उत्तम साधन कोई नही है। भिन्न-भिन्न रसो का आस्वाद लेने मे तथा दूसरो की निंदा करने में चटुल इस जीभ के इस नामरस का अमृत-तुल्य आस्वाद चखा कर एक-सा 'राम-राम' रटने में प्रवृत्त रखना ही इस पर विजय पाने का सुलभ साधन है। इस अनुभव के आधार पर स्थित होने के कारण आप का उपदेश बड़ा प्रभाव डालता था। लोग इस बात के जान चुके थे कि यह उपदेश केवल जबान उठा कर की हुई बक-वाद नही है, पर 'पहले कर पीछे कह' वाले सद्भक्त का स्वगत अनुभव है। और इसी लिए उस उपदेश के सुन कर लोग केवल मुग्ध ही नही होते थे पर स्वय उसी प्रकार आचरण करने लगते थे। नाम-स्मरण की श्रेष्ठता के विषय में जो कारण श्रीतुकाराम जी महाराज ने दिए हैं उन मे प्रथम है सुलभता। ईश्वर-प्राप्ति के अनेक साधन हैं, परतु वे सब बड़े कठिन हैं। यथा योग, वैराग्य, कर्म, भक्ति इत्यादि। पर योग के लिए चचल मन के रोकना आवश्यक है जो कि बड़ा कठिन काम है। वैराग्य के लिए वासनाओं का त्याग करना चाहिए, जो असभवप्राय ही है। देह-बुद्धि जब तक है तब तक कर्म-फल की इच्छा छूटती नही अर्थात् अनासक्त बुद्धि से कर्म होता नहीं। भक्ति भी फलवती करने के लिए काम-क्रोधादिको का उफान शात करना ज़रूरी बात है। इस प्रकार सब साधनों मे कुछ न कुछ झंझट अवश्य लगे हुए हैं, जिन के कारण

सामान्य जनो को ये साधन असाध्य हो जाते है। और इसी लिए भगवन्नाम-स्मरण ही सर्व सुलभ साधन है। श्रीतुकाराम जी महाराज कहते है—"युक्ताहार अर्थात् थोडा खाना और वह भी सात्विक—ऐसे साधनो की जरूरत नही। इस कलियुग मे नारायण ने ईश्वर प्राप्ति का बडा सुलभ मार्ग दिखलाया है यह कि नाम-स्मरण करते रहो। फिर अन्य व्यवहार छोड़ने की आवश्यकता नही, ससार-त्याग की जरूरत नही, 'विभूति रमा कर' दड धारण करना नही, बन मे जाना नहीं, कुछ नहीं। केवल नाम-स्मरण यही सुलभ उपाय है। दूसरे सब झूठ ही मालूम पड़ते है। दूसरा कारण नाम-स्मरण की श्रेष्ठता का है अधिकार का अभाव। नाम-स्मरण करने का अधिकार कुछ विवक्षित विशिष्ट लोगो को ही नहीं है, जैसा कि वेद-पठन का अधिकार केवल द्विजो को ही है। वेदो का अर्थ पाठको को आता नही और द्विजेतर लोगो को पाठ का भी अधिकार नहीं। नाम-स्मरण के लिए सब लोगो को अधिकार है। यहाँ न कुछ विधि है, न निषेध। स्त्री, शूद्र, ब्राह्मण सबो के लिए यह साधन एक-सा ही है। यहाँ पक्षपात किसी प्रकार का नहीं है। तीसरा कारण यह है कि नाम-स्मरण के अतिरिक्त अन्य साधन जब चाहो तब नहीं कर सकते। पर इस साधन के लिए समय की मर्यादा नहीं। यही एक ऐसा साधन है जिस का अवलब सदा-सर्वदा कर सकते हैं। जाते-आते, उठते-बैठते, काम करते, देते-लेते, खाते समय और तो क्या रात्रि को शय्या पर सब प्रकार का सुखानुभव करते हुए भी नाम-स्मरण कर सकते हैं। अंतिम कारण है इस साधन की निर्भयता। अन्य साधनों मे यदि कुछ भूल हो जाय तो कुछ न कुछ अनर्थ का डर रहता है। यथा स्वर-भ्रश हो जाय तो वेदपाठ मे अनर्थ होना है। बिचारा इद्र-शत्रु केवल अशुद्ध स्वरोच्चार से मारा गया। मत्र-तत्रो मे भूल हो, तो साधक पागल बन जावे। पर इस साधन मे किसी बात का डर नहीं। अन्य साधनो के उपदेशको ने इस प्रकार जो-जो बाते अपने साधन की महत्ता दिखलाने के लिए प्रचलित की थी, वे ही बाते नाम-स्मरण को सुलभ बताते हुए श्रीतुकाराम जी ने दोष-दृष्टि से दिखलाई और नाम-स्मरण की श्रेष्ठता, सुलभता, सर्वाधिकार, सर्वदा आचरणीयता और निर्भयता इन बातो से प्रस्थापित की।

श्रीतुकाराम जी महाराज नाम-स्मरण का उपदेश करते हुए पुराण ग्रथो का भरपूर आधार लेते थे। अजामिल, जिस ने कि अपने लड़के का नाम नारायण रक्खा था और उसी को बुलाते हुए 'नारायण, नारायण' कहकर जिस का उद्धार हुआ था; गणिका जिस ने एक तोता पाला था और उसे सिखाते हुए 'राम राम, कृष्ण कृष्ण' कहते हुए जो मुक्त हो गई थी, वाल्मीकि, ध्रुव प्रह्लाद, उपमन्यु इत्यादि अनेक कथाओं के आधार पर तुकाराम जी हमेशा नाम-माहात्म्य स्थापित करते। एक ओर आप ऐसा प्रश्न करते कि—"सज्जनो, क्षमा कीजिए मेरी धृष्टता को। पर यह तो बताइए कि नाम ले कर किस मनुष्य का उद्धार नही हुआ ? आप यदि किसी ऐसे मनुष्य को जानते हों तो मुझे बतला दीजिए।" दूसरी ओर बड़े ठाठ के साथ कह देते थे कि—"वेद ने अनत बातें कहीं पर एक ही अर्थ दिखलाया। सब शास्त्रों ने विचार कर के यही निश्चित किया। सब पुराणों मे एक ही सिद्धात प्रतिपादित किया। वह है—विठोबा की शरण जाओ और अपनी निष्ठा के अनुसार

उस का नाम लो।" नाम-स्मरण की निंदा करनेवालों को आप ने बडे ही कठोर शब्दों मे फटकारा है। आप कहते हैं "जो नाम के दोष दिखलाता है, उस का दर्शन भी मैं नही चाहता। उस के शब्द तो मुझे विष मे लगते हैं। उस के शब्दों मे निंदा की बू आती है और इसी लिए ऐसी अमगल वाणी कानों से सुनी भी नही जा सकती। उस की विद्या से लाभ ही क्या ? न मालूम किस पुराण के आधार पर वह बोलता है। उस के मुख की आड़ क्या लगाऊँ या उस की जिह्वा बद कैसे करूँ ? सज्जन तो जीते जी उस के पास न जावेंगे। मरने पर यमदूत ही उस की फिक्र करेंगे।" एक और अभग मे तो इन नाम-निंदकों की निंदा करते हुए आप कह उठे कि, "इस नाम-निंदक से बोलने के कारण जो पाप लगेगा, उस की शुद्धि के लिए कोई साधन ही नहीं। कोई-भी प्रायश्चित्त उसे शुद्ध नही कर सकता। मुझे तो सौगध है मेरे ईश्वर विठ्ठल की, जो मै उस से बोलूँ या बात करूँ।" नाम की निंदा सुन कर आप की शाति का भग हो जाता और आप के मुख से ऐसे कटु शब्द निकलते, जिन का कुछ ठिकाना नही। अपनी ख़ुद की निंदा सहन करना आप के लिए कठिन न था, पर विठ्ठल-नाम की निंदा आप से कभी न सही जाती।

नाम-स्मरण पर आप की अटल श्रद्धा थी। आप का दृढ विश्वास था कि "हरि कहने से ही मुक्ति मिलती है। हरि कहने से ही पापों का नाश होता है। हरि-स्मरण ही से सब सुख मिलते हैं। हरि-स्मरण के कारण ही इस जन्म-मरण की यातायात से मनुष्य छूटता है। तपस्या, अनुष्ठान इत्यादि साधनों की नाम जपनेवाले को आवश्यकता नही। केवल हरि-हरि कहने से ही सब प्रकार के कार्य सिद्ध होते हैं, और सब प्रकार के बंधन छूट जाते हैं। यदि हरि का नाम लिया जाय, तो दूसरों की तो बात ही क्या, साक्षात् काल भी उस की शरण लेता है।" आप के मत से तो ससार में ऐसा कोई पाप ही न था, जो नाम-स्मरण करने के बाद बाकी बच सके। नाम-स्मरण की महिमा अपरपार है। चित्त को एकाग्र कर नारायण-स्मरण करने से सभी कुछ प्राप्त हो सकता है। जो समझना अत्यंत कठिन है, वह भी नाम-स्मरण से सुलभतया समझ मे आ जाता है। अदृश्य बातें दृश्य होती हैं। जो बातें मुख से बोली नही जा सकती, अर्थात् वाणी से भी परे रहती हैं, उन का अनुभव आने के कारण वे भी बोलने योग्य हो जाती हैं, और जिस की भेंट परम दुर्लभ है, उस की भी भेंट हो जाती है। सार यह कि सब प्रकार के अलभ्य लाभ नाम-स्मरण से प्राप्त होते हैं। और तो क्या केवल इस जन्म के ही नहीं, पूर्व जन्मों के सचित कर्मों का तथा अग्रिम जन्मों मे क्रियमाण कर्मों का सब बध नष्ट हो जाता है, और भवरोग समूल दूर होता है। आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक, तीनों प्रकार के ताप शात होते हैं और माया दासी हो कर उस के पैरों पड़ती है। किंबहुना, सभी प्रकार के लाभ केवल नाम-स्मरण से प्राप्त होते हैं। केवल दृढ़ श्रद्धा और प्रेम मन मे होना चाहिए। श्रद्धा का प्रभाव बड़ा भारी है। तुकाराम जी के मत से यदि दृढ़ श्रद्धा रहे तो सभी प्रकार की सिद्धियाँ नाम-स्मरण से प्राप्त हों। फल जब तक उस के डंठल पर जमा रहता है, तभी तक उस के पकने की आशा रहती है। वैसे ही जब तक श्रद्धा है, तब तक सब सिद्धियाँ प्राप्त होने की संभावना है। जिस मार्ग से जाना आरंभ किया उसी

मार्ग से यदि इष्ट स्थल पर पहुँचना हो तो बीच मे कुछ विघ्न न आने देना चाहिए। इन बीच के अश्रद्धादि आघातों से ही सब प्रकार का नाश होता है। श्रद्धा, प्रेम और नाम-स्मरण इन तीन बातो का समागम होने पर और क्या चाहिए ? फिर ईश्वर के बुलाने की आवश्यकता नहीं, वह स्वय उन भक्तो को खोजते-खोजते उन के घर आ पहुँचता है।

नाम-स्मरण का माहात्म्य बहुत है, पर इस मे एक कमी यह है कि इस साधन का उपयोग एक-एक कर प्रत्येक मनुष्य को करना पड़ता है। इस लिए सब समाज का एक ही समय एक चित्त करने के हेतु भगवद्गुणो का सकीर्तन करना बहुत उपयुक्त साधन है। गुण-सकीर्तन करने के समय यदि वक्ता प्रेम से भगवद्गुणो का अनुवाद करता हो, तो सारा का सारा श्रोतागण एकतान एकचित्त हो ईश्वरभक्ति मे मग्न हो सकता है। एव अनेक अज्ञानी जीवो के चित्त में भगवत्प्रेम एक ही समय पैदा करने के लिए कीर्तन की अपेक्षा अन्य सुलभ साधन नहीं। कीर्तन से नाम-स्मरण में और भी दृढ श्रद्धा होती है। उदाहरणो-द्वारा भक्ति का प्रभाव मनःपटल पर अधिक दृढता से जड़ता है, और कीर्तन के सार्वजनिक रग में रँगने के पश्चात् मन एकात में नाम-स्मरण करने को अधिक चाहता है। इसी कारण श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं कि यह कीर्तन का सार्वजनिक सुख स्वर्ग मे भी प्राप्य नही है। देव भी इसी लिए यह चाहते हैं कि इस मृत्युलोक में हमे जन्म मिले। नारायण नाम-सकीर्तन कर और कीर्तन में अनत गुण का गान कर जीवन्मुक्त हो जाना यहीं पर सभाव्य है। बैकुठ के लोक इन कीर्तनकारो की राह देखते हैं, और यमलोक के निवासी इन से बहुत डरते हैं। कीर्तन मे ईश्वर के सम्मुख प्रेमामृत की धारा बहती है। तुकाराम जी ने हरिकथा को ऊर्ध्ववाहिनी कहा है, अर्थात् यहाँ की प्रेमधारा नीचे से ऊपर को बहती है। आरंभ में लोगों के मन में प्रेम उत्पन्न कर धीरे-धीरे वह उन के मनोविकारो को अपने वश करती है और शनैः-शनैः सब इंद्रियो को ईश्वर-विषय में आसक्त कर मनुष्य को उच्चकोटि पर पहुँचाती है और अत में उसे मुक्त करती है। इसी कारण श्रीशकर जी हमेशा नाम गुण-गान करते हैं। ऐसे कीर्तन की महिमा वर्णन करना साक्षात् ईश्वर के लिए भी अशक्य है।

कीर्तन का महत्व तुकाराम जी ने यो बखाना है। "कीर्तन में ईश्वर का ध्यान होता है। अन्य विषयो में आसक्त मन एक-दम ईश्वर की ओर खींचा जाता है। कीर्तन सब साधनों का अलकार है, और इस से अधिक पुण्य दुनिया मे कहीं नहीं है। भावभक्ति से कीर्तन कर मनुष्य स्वय तो तरता ही है पर अन्य जनों को भी तारता है। 'नारायण' 'नारायण' सुलभ मत्र का उच्चार लोगों के सब दोषो को जला कर खाक कर देता है। हरिकथा दुःख-हरण करती है, जनों को मुक्ति दिलाती है, पापों का नाश करती है, दोषी लोगों का उद्धार करती है और जड़-मूढ लोगो को समाधि-स्थिति का अनुभव दिलाती है। कीर्तन में तपस्या होती है, ध्यान-धारणा सधती है और अमृत-पान का आनंद मिलता है। कीर्तन में मंत्रों का जप होता है और कीर्तन के समय कलिकाल काँप उठता है। लोगों की तो कथा ही क्या, हरिकथा में साक्षात् परमेश्वर भी मुग्ध हो कर समाधिमग्न वहीं खड़ा हो जाता है। कथा एक प्रकार का 'त्रिवेणी-सगम' है। यहाँ पर

देव, भक्त और नाम तीनो का समागम होता है। यहाँ के चरण रजःकणो को बदन करना सब से उत्तम है। कथा से दोषो के पहाड़ के पहाड़ जलने लगते हैं और इस पवित्र हरिकथा का श्रवण करनेवाले नारी-नर शुद्ध हो जाते हैं। सब के सब तीर्थ यहाँ पर स्वय पवित्र होने के लिए आ पहुँचते है और सारे पर्वकाल इन वैष्णवो के पैरो पड़ने के के लिए यहाँ जमा होते हैं। इस की महिमा अनुपम है, किसी की भी उपमा इसे नहीं दी जा सकती। इस सुख का वर्णन करने में ब्रह्म-देव भी असमर्थ है।

श्रीतुकाराम महाराज के सब प्रयत्न सामान्य-जनो का उद्धार करने के विषय मे थे। नाम-स्मरण से व्यक्ति का उद्धार हो सकता है और कीर्तन से समाज का। पर केवल छोटे-से समाज के उद्धार से आप के जी को सतोष न था। आप चाहते थे कि गाँव के गाँव, प्रात के प्रात, देश का देश, ऊँचा उठे। इस के लिए केवल कीर्तन पर्याप्त न था। इन्हे भजन-कीर्तन करनेवाले सब के सब समाजो को एक ही सूत्र में ग्रथित करना था और इस भक्ति-मार्ग के विरोधक--क्या वेद-पाठक पडित ब्राह्मण और क्या वेद-निदक मूर्ति-भजक मुसलमान—लोगो को अपने मार्ग का बल दिखलाना था। इस प्रधान हेतु से आप पढरपुर की वारी की महत्ता समझते थे। साघिक प्रार्थना का सामर्थ्य आप खूब जानते थे। आज भी किसी बड़ी जुम्मा मसजिद में हमारे हज़ारो मुसलमान भाइयो को एक साथ नमाज पढ़ते हुए देख या योरप के किसी बड़े गिरजाघर मे हजारो खिस्त बाधवो को एक साथ प्रार्थना करते हुए देख मन मे जो गभीरता का भाव प्रकट होता है, वह अवर्णनीय है। सघ-शक्ति का प्रभाव बड़ा भारी है। जब एक दो नही, दस-बीस नही, सौ-दो सौ नही, हजारो लोग एक ही बात करते हुए नजर आते हैं, तो उस बात का प्रभाव मन पर पड़े बिना नही रहता और हठात् मन मे वही प्रेरणा पैदा होती है। उस विषय में कैसी भी अश्रद्धा रखनेवाला हो, उस का भी चित उन्ही भावनाओ से उमड़ने लगता है और वह स्वय अपनी निज की भावनाओ को भूल उन्हीं नई भावनाओ के वश हो जाता है। योरप के किसी बड़े 'बालरूम' नृत्यगृह के आस-पास मजा देखते हुए हमारे भारतीय भाइयों को कई बार इस बात का अनुभव हुआ होगा कि नाचने का मजाक उड़ाते हुए भी जब बाजे बजने लगते हैं और हजारो युवक-युवतियाँ गले मे हाथ डाले एक ही ताल पर नाचने लगती हैं, तब उसी नाचने के मजाक को भूल इन भारतीय भाइयो के भी पैर उसी ताल पर हिलने लगते हैं, और खडे-खड़े ही इन का नाच शुरू हो जाता है। महाशिवरात्रि के दिन किसी अग्रेजी पढ़े हुए फैशनेबल बाबू साहब को श्रीकाशी-विश्वनाथ जी की दर्शन-यात्रा को ले जाइए। ज्ञानवापी के पास पहुँचने के समय तक वे अपने कपड़ो की इस्तरी बचाने के ही फिक्र में रहते हैं। पर ज्यो-ज्यो भोले-भाले भाविक भक्तों की भीड़ मे आप मिलते जाते हैं, खुद के पेरों से चलना असभव हो कर भीड़ के हिलोरो के साथ ही क़दम आगे-पीछे उठने लगते हैं, गगा-जल का लोटा और बेल-फूल की पुड़िया लिया हुआ दाहिना हाथ उठाए, हजारो शिवभक्तो की 'शभो हर' की ललकारे कानों मे गूँजने लगती हैं, हमारे बाबू साहब भी धीरे-धीरे अपने को भूलने लगते हैं, उन के हृदय मे भी एक नई उमग उमड़ती है, और अत में वे स्वय भी उसी 'शभो हर' की गर्जना मे शामिल

हो जाते हैं। पंढरपुर की वारी की भी ठीक यही बात है। असाढ और कातिक की शयनी और प्रबोधिनी एकादशी के दिन जब हजारों ही नहीं, लाखों लोग पंढरपुर में एकत्रित होते हैं, जब जगह-जगह इन लोगों के भजन होते हैं, जब जिधर देखो उधर मृदंग और झाँझ की आवाज सुनाई देती है, और जब ये सब के सब लोग 'विट्ठल' 'विट्ठल' कहते हुए नाचने लगते है, तब इस विट्ठल शब्द का नाद केवल मनुष्यों के ही मन में नहीं, पर घरों के पत्थरों में भी गूँजने लगता है और अभाविक से अभाविक मनुष्य भी अपनी अश्रद्धा तथा नास्तिकता भूल कर स्वयं ही 'विट्ठल' 'विट्ठल' 'विट्ठल' 'विट्ठल' कह कर नाचने लगता है। साधिक सामर्थ्य का यह प्रभाव ध्यान में रख कर ही श्रीतुकाराम महाराज ने पंढरी की वारी का तथा पंढरी-क्षेत्र का महात्म्य वर्णन किया है। पाठकों को भी पंढरी-माहात्म्य-विषयक अभंग इसी बात को ध्यान में रख कर पढने चाहिए।

पंढरपुर की वारी का एक सब से बडा लाभ तुकाराम जी को दिखाई देता था। वह था सब इंद्रियों को एक-सा आसक्त रखना। वारी को निकलने के समय से ही विट्ठल नाम की गर्जना करने के कारण और मार्ग भर विट्ठल का ही भजन करने के कारण जिह्वा तो हरि नाम में आसक्त रहती ही है। एक ही नहीं सभी के सभी लोगों के विट्ठल नामोच्चार करने के कारण कानों को भी सिवाय विट्ठल नाम के और कुछ सुनाई नहीं देता है। हाथ, झाँझ या मृदंग बजाने में तत्पर रहते हैं। पंढरपुर पास आने के समय से ही नेत्र श्री विट्ठल मंदिर का शिखर देखने में तथा वहाँ के सब स्थानों का दर्शन करने में तल्लीन रहते हैं। पैर तो एक-से श्रीविट्ठल मंदिर की ओर बढ़ते ही रहते हैं। सभी तरफ श्रीविट्ठल के लिए तैयार किए हुए तुलसी के तथा फूलों के हारों की सुगंध आने के कारण घ्राणेंद्रिय भी तृप्त होती है। संतों की भेंट लेने में तथा उन से मिलने में स्पर्श-सुख का भी आनंद मिलता है। एवं सब कर्मेंद्रिय तथा ज्ञानेंद्रिय एक ही ईश्वर-भक्ति में लवलीन रहने पर यदि चित्त भी और कहीं न जा कर परमेश्वर-चिंतन में ही आसक्त हो तो आश्चर्य ही क्या? इन्हीं बातों को ध्यान में रख कर श्रीतुकाराम जी कहते हैं "चलो—पंढरपुर को जावें और रुक्मिणी-पर श्रीविट्ठल का दर्शन करें। वहाँ पर आँखें तथा कान तृप्त होंगे और मन को समाधान प्राप्त होगा। संत-महंतों से भेंट होगी और चन्द्रभागा के रेतीले मैदान पर नाचने का आनंद आवेगा। यह क्षेत्र सब तीर्थों का आगार और सब सुखों का भंडार है। मैं क़सम खा कर कहता हूँ कि पंढरपुर जाने के बाद जन्म-मरण के फेरा में फँसने का डर ही नहीं है।"

सब इंद्रियों को एकदम आसक्त रखने के कारण ही पंढरपुर मुक्ति पाने का अत्यंत सुलभ साधन था। मुक्ति क्या चीज़ है? जहाँ पर सब सांसारिक दुःखों को भूल कर चित्त एक ही ईश्वर-विषय में लीन होता है, उसी अवस्था का नाम मुक्ति है। यह अवस्था साधिक मनोबल से तथा इंद्रियाँ एक ही विषय में विलीन करने से सहज में प्राप्त होती है। इसी लिए श्रीतुकाराम जी ने कहा है, "हम ने तो वाणी की भीत खड़ी कर परब्रह्म को कैद कर लिया है। अब किसी श्रम की आवश्यकता नहीं। नाम-रूप की गाड़ी बाँध कर एक-एक को अलग फेंक दिया है। अब रास्ते में ठहरने का कोई कारण नहीं। उद्धार तो अत्यंत सुलभता से हमारे हाथ आ गया है। एक पंढरपुर की वारी करने के बाद फिर भिन्न भिन्न

कर्मों के आचरण की कुछ जरूरत ही नहीं है। कोई तपस्या करे या कोई धूनी रमावे। किसी को आत्म-स्थिति प्राप्त हो या कोई ज्ञान से मिलनेवाली मुक्ति को श्रेष्ठ कहे। सच्चे हरिदास इन सब ढगों की निंदा ही करते हैं। वे इन मार्गों का अवलंब कदापि न करेंगे। सब को छोड़ पंढरपुर के आँगन में प्रेम से नाचना ही वे पसंद करेंगे। क्योंकि अगर लगे हाथ कहीं अभिमान भाग जाता हो तो वह पंढरपुर के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं। दुष्ट से दुष्ट मनुष्य भी यहाँ आकर पसीज उठता है। उस के भी नेत्रों से प्रेमाश्रु-धाराएँ बहती हैं, और शरीर पर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यहाँ के 'गोपालशाला' के प्रसाद में भेदभाव ढूँढने को भी नहीं बचता। पंढरपुर आने पर फिर न तो कोई इतिहास-पुराण पढ़ने की आवश्यकता है, न न्यायवेदांतादि शास्त्रों के घटपटादि शब्दों के खटपट की। एक हाथ में झाँझ और एक हाथ में पताका लो और श्रीविट्ठल के गुण गाते हुए पंढरपुर को जाओ। बड़े भाग्य से इस मनुष्य-देह की प्राप्ति हुई है। एक बार पंढरपुराधीश्वर विट्ठल का दर्शन करो और चंद्रभागा तीर पर प्रेम से नाचो। फिर देखो तो सही जन्म भर की पीड़ा कैसे नष्ट होती है। जैसे पेड़ के मूल में पानी डालने से सब वृक्ष हरा-भरा होता है उसी प्रकार पंढरी की वारी करने से बाकी सब साधन अनायास ही सधते हैं। सब साधनों के इस राजा को वश में करने के बाद फिर उस की प्रजा तो बिना कष्ट किए ही अपने वश होती है। इस लिए अन्य साधनों का अवलंब न कर एक पंढरपुर की वारी करो और मुक्ति को प्राप्त कर लो।"

श्रीतुकाराम जी कभी-कभी बड़े प्रेम में आ कर व्याज-स्तुति की रीति से भी श्रीविट्ठल का वर्णन करते हैं। आप कहते हैं "भाइयो, सँभलो। पंढरपुर का भूत बड़ा ज़बरदस्त है। आने-जानेवाले लोगों को यह पछाड़ता है। वहाँ कभी न जाओ। जो एक बार वहाँ गया, वह फिर वहाँ से वापस न आया। तुकाराम स्वयं एक बार जो पंढरपुर को गया है, वह अब वहाँ से लौट ही नहीं सकता।" और एकाध नमूना देखिए। तुकाराम कहते हैं—"भाइयो चलो। इस पंढरपुर में एक बड़ा बदमाश आया है। उस के हाथों में प्रेमपाश है। सब दुनिया को वह फँसाता है और अपने पीछे खींचता ले जाता है। हाथ कमर पर रख देखते-देखते अपनी नजर से लोगों की सुध-बुध भुला देता है। वैकुंठ से पंढरपुर को यह इसी लिए आया है। इस चोर को पुंडलीक ने अपने यहाँ ठहरने को स्थान दिया है। आओ, हम सब चलें और इसे भलीभाँति पकड़ रक्खें।" यह हुई व्याजोक्ति की बात। सचमुच पंढरपुर की महिमा बखानते हुए आप इसे वैकुंठ से भी बढ़ कर बताते थे—"वैकुंठ तो केवल वैकुंठ ही है पर पंढरपुर है भू-वैकुंठ अर्थात् एक अक्षर से अधिक है। वैकुंठ की बड़ाई तभी तक है, जब तक पंढरी न देखी हो। पंढरपुर में तो मोक्ष सिद्धि घर-घर फेरी लगाती है। कथा-पुराण के समय एक-सा नामघोष होता है। स्त्रियाँ भी पीसती, कूटतीं, घर के काम करती पांडुरंग के गीत गाती हैं। दुःख खोजता भी कोई पंढरपुर जावे तो उस के हाथ सुख ही सुख लगता है। यहाँ के स्वामी को ज्ञानी पुरुष से भी बढ़ कर भोला-भाला भक्त अधिक प्रिय है। थकावट या घबराहट के बदले यहाँ प्रेम मिलता है और नुकसान उठा कर लाभ पहुँचता है। सब भक्तों का विश्रांति-स्थान श्रीविट्ठल खड़ा-खड़ा भक्तों को पुकार रहा है। हाथों में प्रेम का प्रसाद ले कर भक्तों के मुख में वह देता है और

कमर बाँध कर इस भवसागर से उन्हें पार उतारता है।" ऐसे कृपासिंधु, दीनबंधु, सुख-निधान, भगवान् पंढरपुराधीश्वर पांडुरंग की यात्रा, उस के गुणों का संकीर्त्तन और उसी का नाम-स्मरण करते-करते श्रीतुकाराम महाराज ने अपना जीवन व्यतीत किया और स्वयं कृतार्थ हो अपने उपदेशामृत से लाखों लोगों को कृतार्थ किया। आज भी उसी अभंगवाणी का रसभरा अमृतपान कर लोग कृतार्थ होते हैं और आगे भी होते रहेंगे।

पंचदश परिच्छेद
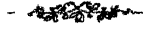
तुकाराम जी की हिंदी कविता

मराठी भाषा बोलनेवाले तथा लिखनेवाले सभी कवियो ने प्रायः हिदी में थोड़ी-बहुत रचना कर हिदी को अपनाया है। सब से पहले जिस स्त्री-कवि ने हिंदी कविता की, या यो कहना अधिक उचित होगा कि जिस स्त्री-कवि की सब से प्राचीन कविता उपलब्ध है, वह महाराष्ट्र सत ज्ञानेश्वर की बहिन मुक्ताबाई है। निवृत्ति, ज्ञानेश्वर प्रभृति भाई जो महाराष्ट्र भागवत-सप्रदाय के आद्य-प्रवर्तक समझे जाते हैं, वे तो महात्मा गोरखनाथ की ही शिष्य-परपरा के थे। वे हिंदी से परिचित थे और उन की रची थोड़ी-बहुत हिंदी कविता पाई भी जाती है। नामदेव ने तो हिदी में अनेक पद बनाए, जिन मे से कई सिक्ख लोगो के ग्रथ-साहब मे समाविष्ट हैं। नामदेव जी के समकालीन अनेक महाराष्ट्र सत थे। उन में से हर एक की थोड़ी-बहुत हिदी-कविता उपलब्ध है। नामदेव जी के पश्चात् तो मुसलमानो का महाराष्ट्र मे ख़ूब ही दौर-दौरा रहा। अर्थात् हिदी से लोग अधिकाधिक परिचित होते रहे। मुसलमानो की फौज में हिदी बोलनेवाले ही प्रायः रहते थे, जिस के कारण जहाँ-जहाँ ये फ़ौजे जाती और उन का लश्कर महीनो पड़ा रहता, वहाँ-वहाँ हिदुस्तानी भाषा की भी बोल-चाल अधिक प्रमाण मे होती। इस के बाद तो मुसलमानो के राज्य ही महाराष्ट्र मे थे। अर्थात् हिदुस्तानी को राजभाषा का ही महत्व प्राप्त था। इन सब कारणो से हर एक कवि जो यह चाहता था कि 'मेरी कविता महाराष्ट्र के बाहर भी समझी जावे और महाराष्ट्र के भी सभी लोग समझे', वह हिदी मे अवश्य कुछ न कुछ लिखता। श्रीतुकाराम जी भी

इस सामान्य नियम के अपवाद न थे। उन की भी थोड़ी-बहुत हिंदी-कविता उपलब्ध है। आप की कविता पर सामान्य विचार गत परिच्छेदों में हो चुका है। पर जब तक कि आप की हिंदी कविता का विचार न किया जावे, तब तक वह विचार अधूरा ही रह जावेगा। फिर भी हिंदी-भाषा में लिखे हुए इस ग्रंथ में तो वह विचार न करना अपरिहार्य ही था। इसी हेतु इस अंतिम परिच्छेद में श्रीतुकाराम महाराज की हिंदी कविता पर विचार करना है।

सब से पहले श्रीतुकाराम जी ने कृष्ण-लीला पर अभंग रचे। श्रीकृष्ण जी के बाल-चरित्र में उन का गोपालों के साथ खेलना तथा गोपियों के साथ क्रीड़ा करना प्रसिद्ध ही है। सभी भगवद्भक्त और विशेषतः भागवत-संप्रदाय के भगवद्भक्त गोपियों के प्रेम की स्तुति करते हैं। महाराष्ट्र भागवत संतों की भी बहुत-सी कविता इस गोपी-प्रेम से भरी है। यह सब कविता वारकरी-परंपरा में 'गवालन' नाम से प्रसिद्ध है। हर एक महाराष्ट्र संत की 'गवालन' शीर्षक कविता भजनी लोग गाया करते हैं। इस कविता में प्रायः गोपियों की उक्तियाँ रहती हैं। तुकाराम जी के 'गवालन' शीर्षक तीन अभंग हैं, जो नीचे लिखे जाते हैं।—

(१)

मैं भूली घर जानी बाट।
गोरस बेचन आये हाट ॥ १ ॥
कान्हा रे मनमोहन लाल।
सबही बिसरूँ देखें गोपाल ॥ २ ॥
काहा पग डारूँ देख आनेरा।
देखें तो सब वोहिन घेरा ॥ ३ ॥
हुं तो थकित भैर तुका।
भागा रे सब मन का धोका ॥ ४ ॥

(२)

हरि बिन रहिया न जाए जिहिरा।
कब की थाड़ी देखें राहा ॥ १ ॥
क्या मेरे लाल कवन चुकी भई।
क्या मोहिपासिती बेर लगाई ॥ २ ॥
कोई सखी हरि जावे बुलावन।
बारहि डारूँ उस पर ये तन ॥ ३ ॥
तुका प्रभु कब देखे पाऊँ।
पासी आऊँ फेर न जाऊँ ॥ ४ ॥

(३)

भलो नंद जी को डिकरो।
लाज राखी लीन हमारो ॥ १ ॥

आगल आवो देव जी कान्हा।
मै घर छोड़ी आई न्हाना॥ २॥
उनसु कलना न व्हेतो भला।
खसम अहकार दादुला॥ ३॥
तुका प्रभु परबल हरी।
छपी आये हुं जगाथी न्यारी॥ ४॥

इन से श्रीतुकाराम महाराज की हिंदी की थोड़ी-बहुत कल्पना हो सकती है। इस हिंदी पर मराठी तथा गुजराती की छाप साफ-साफ नजर आती है। घर जानी का अर्थ घर जानेवाली है। महाराष्ट्र में एक कहावत प्रचलित है—'मनमानी घरजानी,' जिस से यह शब्द-प्रचार लिया हुआ है। बाट शब्द मराठी है। इस का अर्थ है राह। तुकाराम जी की कविता मे क्रियाओं के एकारात रूप कई बार आते हैं। जैसे आये, देखे इत्यादि। कभी कभी इन का अर्थ आयी हूँ, देखती हूँ होता है, तो कभी-कभी आऊँ, देखूँ इत्यादि अर्थों मे भी ये रूप प्रयुक्त होते हैं। पहली गवालन की तीसरी कविता में जो 'अनेरा' शब्द है, वह 'अँधेरा' का अपभ्रष्ट रूप है। 'हिन' प्रत्यय तृतीया विभक्ति का द्योतक है और प्रायः ये, वो इत्यादि मूलरूपो मे ही लगाया जाता है, 'हूँ' 'हौ' की जगह अर्थात् उत्तम पुरुष एकवचनी सर्वनाम का रूप है और 'र' सबोधनार्थक है। कबीरदास जी का एक पद हिंदी भक्तो मे प्रचलित है 'तेरा मेरा जियरा'। इसी से 'जियरा' शब्द ले कर उस का श्रुतरूप 'जिहिरा' प्रयुक्त किया है। दूसरी गवालन के अंत्य पद मे 'पाऊँ' शब्द 'पॉव' का रूप है। पासी का अर्थ है पास। तीसरी गवालन पर गुजराती छाप साफ-साफ नजर आती है। नरसी मेहता के-से गुजराती भक्त-कवियो के कवित्त महाराष्ट्र भर मे प्रचलित थे जिन का यह प्रभाव है। डीकरो अर्थात् बालक, आगल अर्थात् पहले, न्हाना अर्थात् बचा ये गुजराती शब्द साफ ही हैं। 'कलना' यह समझने के अर्थ की मराठी क्रिया है। दादुला शब्द भी मराठी है जिस का अर्थ है पति। परबल का अर्थ प्रबल स्पष्ट ही है। तुकाराम जी की भाषा मे और भी एक विशेषता पाई जाती है। मराठी में शब्दो को विभक्ति-प्रत्यय लगाने के पूर्व एक विशिष्ट रूप दिया जाता है, जिसे सामान्यरूप कहते है। इस मे अत्य ह्रस्व स्वर दीर्घ किया जाता है। हिंदी विभक्ति-प्रत्यय लगाने के पूर्व कभी-कभी तुकाराम जी की भाषा में यह रूप पाया जाता है। जैसे जगाथी अर्थात् जग से। यह गुजराती-मराठी का मिश्र प्रभाव है। इसी तीसरी गवालन मे अहकार पर जो पती का रूपक रचा है उस से यह कल्पना हो सकती है कि तत्कालीन भागवत लोग गोपीकृष्ण-भक्ति की ओर किस दृष्टि से देखते थे। सास, पति देवर इत्यादि मनोभाव तथा वासनाओ के वश मे रहनेवाली मनुष्य की चित्तवृत्ति गोपी है। जब एक बार इसे हरिचरणो का प्रेम तथा समागम प्राप्त होता है, तो फिर वह न उसे छोड़ना चाहती है, न उन के वश मे रहने की इच्छा करती है। वह फिर इन सबो को तुच्छ मानने लगती है। जरा मौका मिला कि भागी वह श्रीकृष्ण जी से मिलने के लिए और वहीं पर रममाण होने के लिए। भागवतो के गवालन शीर्षक सब

कविताओ का सार यही है। केवल भिन्न-भिन्न रूपको में वह दिखलाया जाता है।

श्रीतुकाराम जी के समय मे महाराष्ट्र देश मे मुसलमानी पथ के कई सप्रदाय थे। ये भिन्न प्रकार के पथ अपनी-अपनी विशिष्ट रीति से लोगो को तग करते थे। इन लोगो को ध्यान मे रख कर तुकाराम जी ने अपनी फुटकर कविताओ मे कुछ हिंदी अभग लिखे हैं। हिंदूधर्म के सप्रदाय तथा पथो के लोगो पर फटकार उड़ाने के लिए जैसे मराठी में कविता की, उसी प्रकार इन मुसलमानी पथों पर कोडे लगाने के लिए ये कविताएँ लिखी गई हैं। इन पथो मे से एक का नाम 'दरवेस' था। घर-घर अल्ला के नाम से फेरी करते हुए ये लोग भीख माँगते थे। तुकाराम जी का 'दरवेस' अभग यो है।

> अल्ला करे सो होय बाबा, करतार का सिरताज।
> गाऊ बछरे तिसे चलावे, यारी बाघोन सात ॥१॥
> ख्याल मेरा साहेब का बाबा, हुआ करतार।
> व्हाँते आए चढे पीठ, आए हुआ असवार ॥२॥
> जिकिर करो अल्ला की बाबा, सबल्या अदर भेस।
> कहे तुका जो नर बुझे, सोहि भया दरवेस ॥३॥

इस अभग में अल्ला अर्थात् परमेश्वर की पहले शक्ति दिखलाई है। वह सब कर्त्ताओं मे श्रेष्ठ है। ऐसा कि गाय, बछडे इत्यादिको की भी बाघ के साथ दोस्ती चलाता है। बाघोन अर्थात् बाघो के और तिसे अर्थात् तिन से। मेरे ईश्वर की भक्ति ऐसी प्रभाव-शालिनी है कि वह ऊपर लिखी हुई यारी (दोस्ती) पर ही नही ठहरती तो वहाँ से आगे पीठ पर चढ़ स्वय ही सवार होती है। बाबा, उस अल्ला की बात करो, जिस ने सबों के अंदर भेख लिया है, अर्थात् जो सभी बाह्य आकारों के अतर्गत है। जो इस बात को जानता है वही दर असल दरवेस है। घट-घट मे भरे हुए ईश्वर की बातें कैसी खूबी के साथ दिखलाई हैं।

एक दूसरे प्रकार के फकीर 'मलग' थे। ये कपड़ा बिछा कर लोगों के घर जा कर बैठते और अपने पास के काठ के पाँसे फेंक कर उन दाँवों से लोगों का भविष्य बतलाते। आँखे मिचा-मिचा कर लोगों को अपना कहना समझाते और उन्हें ठगते। ऐसे लोगों की आँखे खोलने के लिए तुकाराम जी कहते हैं।--

> नज़र करे सोहि जिके बाबा, दुरथी तमासा देख।
> लकड़ी फाँसा ले कर बैठा, आगले ठकण भेख ॥१॥
> काहे भूल एक देखत।
> आँखों मारत ढोंग बाजार ॥२॥
> दमरी चमरी जो नर भुला
> सो त आधो हि लत खाय ॥३॥
> नहिं बुलावत किसे बाबा, आपहि मत जाय।
> कहे तुका उस आसके सग, फिर फिर गोते खाय ॥४॥

इस अभंग मे 'जिकना' यह मराठी क्रिया 'जीतना' अर्थ मे आई है। दुरथी अर्थात् दूर से और ठकण अर्थात् ठगने को। हमारी चमरी की जोड़ी कनक-कामिनी के अर्थ मे प्रयुक्त है और इस जोड़ी की पकड़ में फँसा पुरुष आगे लाते ही खाता है। अगर कोई न बुलावे तो ख़ुद हो कर वहाँ न जाना चाहिए। नही तो इस आशा के संग मे बार-बार गोते ही खाने पड़ेगे।

तुकाराम जी के एक हिंदी अभग का नाम है, 'डोईफोडा' अर्थात् 'सिरफोड़ा'। वह है :—

तन भज्याय ते बुरा, जिकीर ते करे।
सीर काटे ऊर कुटे, ताहाँ सब डरे ॥१॥
ताहाँ एक तुही, ताहाँ एक तुही।
ताहाँ एक तुही रे, बाबा हम तुम नहीं ॥२॥
दिदार देखो, भूले नहीं, किसे पछाने को ये।
सचा नहीं पकड़ सके, झूठा झूठे रोए ॥३॥
किसे कहे मेरा किन्हो, सत लिया भास।
नहीं मेलो मिले जीवना, झूठा किया नास ॥४॥
सुनो भाई कैसा तोही, होय तैसा होय।
बाट खाना अल्ला कहना, एक बार तो होय ॥५॥
भला लिया भेख मुडे, अपना नफा देख।
कहे तुका सो ही सखा, हाक अल्ला एक ॥६॥

ये सिरफोडे अपने शरीर को (तन को) अनेक प्रकार से कष्ट देते (भंजाते) थे। जहाँ-कहीं भीख माँगने जाते, सिर फोड़ते, छाती पीटते और इस प्रकार लोगो को तंग कर डराते और भीख देने के लिए मजबूर करते। तुकाराम जी कहते हैं कि ये लोग मुह से तो 'अल्ला तुही रे' 'अल्ला तुही रे' कहते हैं, पर यहाँ क्या सभी जगह परमेश्वर ही भरा है, हम तुम यह द्वैत नही है। अर्थात् कबीरदास जी की भाषा मे कहना हो तो 'भेद नही अभेद हुआ है, राम भरा जग सारा।' सच्चे दिलदार आदमी को पहचानो। अगर उसे नहीं पहचाना और पकड़ा तो यह सब सिर फोड़ना, रोना, छाती कूटना व्यर्थ ही है। 'मेरा काम करो' यह किसे कहे ? जिधर-तिधर सतो का केवल आभास होता है। मेरे जीवन से तो मिलाए भी किसी का जीवन नही मिलता। व्यर्थ सर्वनाश हो रहा है। अब जो होना होगा वह मज़े से हो, जो कुछ मिले, वह बाँट खाना चाहिए और अल्ला का नाम लेना चाहिए। जो कोई अल्ला के नाम से पुकारता है, वही मेरा दोस्त है, बाक़ी सब लोगो ने अपने स्वार्थ के लिए सिर मुड़ा कर भेख बना लिया है।

एक और प्रकार के ठग लोग उन दिनो महाराष्ट्र में थे। ये अपने को हकीम या वैद कहते और अपनी दवा-दारू की गोलियाँ दे कर लोगों को फँसाते। इन पर भी तुकाराम जी की एक कविता 'वैदगोली' नाम की है। उस के आरभ में ही आप कहते हैं।

अल्ला देवे अल्ला दिलावे। अल्ला दारू, अल्ला खिलावे।
अल्ला बिगर नहि कोय। अल्ला करे सोहि होय॥१॥

अब आप अपने खुद को बैद समझ कर अपनी गोली लेनेवाले को कहते हैं।

मर्द होये वो खडा फिर। नामर्द कू नहीं धीर।
आप ने दिलकू करना सुखी। तिन दाम की क्या खुमासी॥२॥

जिसे अपने दिल को खुश करना है, उसे पैसे की खुमासी अर्थात् परवाह है? अब आप की बनाई हुई गोलियों की भी थोड़ी तारीफ़ सुनिए—

सब रसो का किया मार। भजन गोली एकहि सार।
ईमान तो सबही सखा। थोडी तो भी ले कर खा॥३॥

यही गोली जो ठीक समय पर नहीं खाता उस की फज़ीहत होती है। इस का वर्णन कहते समय तुकाराम जी अपने स्वभावानुसार जैसा कि हम पीछे कह आए हैं, ग्राम्य भाषा का प्रयोग करते हैं। आप कहते हैं।—

सब ज्वानी निकल जावे। पीछे गधड़ा मट्टी खावे।
गॉव ढाल सो क्या लेवे। हगवनी भरी नहीं धोए॥ ४॥

गधड़ा, गॉव ढाल, हगवनी तीनों मराठी शब्द हैं। इन के अर्थ अनुक्रम से हैं गधा, बेवक़ूफ़, लतियल, तथा अपनी ही विष्ठा से भरे हुए कपड़े। हैरानी से आप कहते हैं कि जवानी में ही ये दवा खानी चाहिए।

मेरी दारू जिन्हे खाया। दिदार दरगा सो ही पाया।
तल्हे मुंढ़ी घाल जावे। बिगारी सोवे क्या लेवे॥ ५॥

जिस ने ये दारू खाई वही 'दिलदार दरगा' अर्थात् ईश्वर का स्थान पा सकता है और जो बेगारी तल्हे यानी नीचे सिर कर सो रहता है वह क्या लाभ ले सकता है? इस दारू की कुछ क़ीमत नहीं। तुकाराम जी कहते हैं।—

बजार का बूझे भाव। वोहि पुसता आवे ठाव।
फुकट बाँटूँ कहे तुका। लेवे सोहि लें सखा॥

बजार भाव जो समझता है वही मकान पर पूछता हुआ आ पहुँचता है। पर तुकाराम कहते हैं कि मैं तो मुफ़्त बाँट रहा हूँ, जो कोई इसे ले वही मेरा मित्र है।

'मुंढा' नाम के और भी एक प्रकार के मुसलमान फकीर उस समय महाराष्ट्र में फैले थे। हाथ में एकतारा और झॉझ ले कर ये भजन करते, नाचते, उड़ते, एक दूसरों को चपतें लगाते और नशे के ज़ोर चिल्ला-चिल्ला-कर भीख माँगते। इन पर तुकाराम जी के तीन अभंग हैं।

(१)

सँभाल यारा ऊपर तले दोनों मार की चोट।
नज़र करे सोहि राखे परवा[1] जावे लूट॥ १॥

[1] परवा=पशु, मूर्ख।

प्यार खुदाई[1] प्यार खुदाई, प्यार खुदाई।
प्यार खुदाई रे बाबा, जिकीर खुदाई ॥ १ ॥

उडे कुडे[2] ढुग[3] नचावे, आगल भूलन प्यार।
लडबड खडबड कहे काकू[4], चलावत भार ॥ ३ ॥

कहे तुका सुनो लोका, हम जिन्हों के सात।
मिलावे तो उसे देना, वोही चढावे हात ॥ ४ ॥

(२)

सब सँभाल म्याने लौडे, खड़ा केऊ[5] गुंग।
मदिरथी[6] मता हुआ, भुली पाडी भंग ॥ १ ॥

आपसकु सबाल आपसकु संबाल,
मुढे खूब राख ताल।
मुथि[7] वोहि बोल नही तो,
करूँगा मैं हाल ॥ २ ॥

आवल का तो पीछे नहीं, मुदल बिसर[8] जाय।
फिरते नही लाज रडी, गधे गोते खाय ॥ ३ ॥

जिन्हो खातर इतना होता, सो नहीं तुज बेकाम।
ऊँचा जोरो[9] लिया तुबा, तुंबा बुरा काम ॥ ४ ॥

निकल जावे चि[10]कलजोरा, मुढे दिदारी।
जबानी की छोड़ दे बात, फिर एकतारी ॥ ५ ॥

कहे तुका फिसला रुका, मेरे को तो दान देख।
पकड धका गाड[11]गुडघी, मार चालाऊँ आलेख ॥ ६ ॥

---

[1] खुदाई=ईश्वर का।
[2] कुडे=कूदे।
[3] ढुंग=कूला।
[4] कांकूं=ना, ना, करना।
[5] केऊं=क्यों।
[6] मदिरथी मता=शराब से मस्त।
[7] मुथी=मुँह से।
[8] बिसर=भूल।
[9] जोरो=ज़ोर से।
[10] चि=ही (निश्चय-बोधक)।
[11] गांड गुड घी=पीछे से कूले पर घुटना जोर से मारना।

(३)

आवल नाम अल्ला बडा, लेते भूल न जाये।
इलाम[1] त्याँ कालज उपर, तोहि तुब बजाये ॥ १ ॥
अल्ला एक तूं, नबी एक तू
काटते सिर पाँवों हात नहीं जीव डराए।
आगले देखो, पीछे बूझो, आपे हुजूर आए ॥ २ ॥
सब सबरी[2] नचाव म्याने, खड़ा अपने सात।
हात पाँवो रखते जबाब, नही आगली बात ॥ ३ ॥
सुनो भाई बजार नहीं, सबहि नर चलावे।
नन्हा बडा नहीं कोये, एक ठौर मिलावे ॥ ४ ॥
एकतार[3] नही प्यार, जीवन की आस।
कहे तुका सोहि मुदा, राख लिया पाँएन पास ॥ ५ ॥

कबीरदास जी के दोहरे भी तुकाराम जी के समय में महाराष्ट्र में भली भाँति प्रचलित थे। इन्हीं दोहरों का अनुकरण कर तुकाराम जी ने भी कुछ दोहरे बनाए। हिंदी दोहरों की दृष्टि से इन में छंदोभग तो पद-पद पर है। पर तुकाराम जी की अभग कविता को किसी भंग का डर ही न था। इन दोहरों का भी आस्वाद लीजिए।

तुका बस्तर[4] बिचारा क्या करे, अतर भगवान होय।
भीतर मैला कब मिटे रे, मरे ऊपर धोय ॥१॥
राम राम कह रे मन, और सु नहिं काज।
बहुत उतारे पार आगे, राखि तुका की लाज ॥२॥
लोभी के चित धन बैठे, कामिनि के चित काम।
माता के चित पूत बैठे, तुका के मन राम ॥३॥
तुका राम बहु मीठा रे, भर राखूं शरीर।
तन की करूं नाव री, उतारूँ पैल तीर ॥४॥
सतत पन्हया ले खडा, रहूँ ठाकुरद्वार।
चलता पाछे हूँ फिरो, रज उडत लेउं सिर ॥५॥
तुका बड़ो न मानूं, जिस पास बहु दाम।
बलिहारी उस मुख की, जिस ते निकसे राम ॥६॥

---

[1] **अगर उस (कालज) हृदय के ऊपर (इलाम) विश्वास हो तोहि तंबूरा या एकभारी बजाओ।**

[2] **सबरी=सबों की।**

[3] **जीवित की आशा यदि एकतारी पर नहीं तो (ईश्वर के।) प्यार पर हो. वोही मुंडा ईश्वर अपने चरणों के पास रखता है।**

[4] **ग़रीब।**

राम कहे सो मुख भला रे , खाए खीर [illegible]
हरि बिन मुख मों धूल परी , क्या जनी उस रांड ॥ ७ ॥
राम कहे सो मुख भला रे , बिन राम से बीख[1] ।
आब न जानू रमते बेरा[2] , जब काल लगावे सीख ॥ ८ ॥
कहे तुका मैं सबदा बेचू , लेवे केतन[3] हार ।
मीठा साधु सत जन रे मूरख के सिर मार ॥ ९ ॥
तुका दास तिनकारे , रामभजन नित आस ।
क्या बिचारे पडित करो रे , हात पसारे आस ॥१०॥
तुका प्रीत रामसु, तैसी मीठी राख ।
पतग जाय दीप पररे, करे तन की खाक ॥११॥
कहे तुका जग भुला रे, कह्या न मानत कोय ।
हात परे जब काल के, मारत फोरत डोय[4] ॥१२॥
तुका सुरा[5] नहि शबदका,[6] जहाँ कमाई न होय ।
चोट साहे घनकीरे, हिरा नीबरे[7] तोय ॥१३॥
तुका सुरा बहुत कहावे, लडन बिरला कोय ।
एक पावे ऊँच पदवी,[8] एक खौसा[9] जोय ॥१४॥
तुका मार्‍या पेट का, और न जाने कोय ।
जपता कछु राम नाम, हरि भगत की सोय ॥१५॥
तुका सज्जन तिनसु कहिए, जिनथी प्रेम दुनाय[10] ।
दुर्जन तेरा मुख काला, थीता[11] प्रेम घटाय ॥१६॥
काफर सोही आप न बुझे, आला दुनिया भर ।
कहे तुका सुनो रे भाई, हिरदा जिन्ह का कठोर ॥१७॥
भीस्त[12] न पावे मालथी, पढ़िया लोक रिझाय ।
नीचा जेथे कमतरीन, सोही सो फल खाय ॥१८॥
फल पाया तो सुख भया, किन्हसु न करे विवाद ।
बान न देखे मिरगा,[13] चित्त मिलाया नाद ॥१९॥
तुकादास राम का, मन मे एकहि भाव ।
तो न पालट्टू आवे, येही तन जाय ॥२०॥
तुका रामसू चित बाँध राखूं, तैसा आपनी हात ।
धेनु बछरा छोर जावे, प्रेम न छूटे सात ॥२१॥

---

[1] ज़हर, विष । [2] समय । [3] कितने । [4] सिर । [5] शूर । [6] शब्दों का । [7] पहिचाना जाता है । [8] स्थान । [9] नीचे । [10] दूना होता है । [11] वर्तमान । [12] स्वर्ग, ईश्वर-पद । [13] हिरन ।

चित सु चित जब मिले, तब तन थडा होय ।
तुका मिलना जिन्ह सु, ऐसा बिरला कोय ॥२२॥
चित्त मिले तो सब मिले, नहि तो फुकट[1] सग ।
पानी पथर एकं ही ठोर, कोर न भीजे अग ॥२३॥
तुका सगत तिन से कहिए, जिन से सुख दुनाए ।
दुर्जन तेरा मू काला, थीतो प्रेम घटाए[2] ॥२४॥
तुका मिलनां तो भला, मन सू मन मिल जाय ।
उपर उपर माटी घासनी, उन कौ को न बराय ॥२५॥
तुका कुटुब छोरे रे लरके[3], जोरो सिर मुडाय ।
जब ते इच्छा नहि मुई, तब तू किया काय ॥२६॥
तुका इच्छा मीट नहिं तो, काहा करे जटा खाक ।
मथीया[4] गोला डार दिया तो, नहि मिले फेर न ताक[5] ॥२७॥
श्रीद मेरे साइयां को, तुका चलावे पास ।
सुरा सोहि लरे हम से, छोरे तन की श्रास ॥२८॥
कहे तुका भला भया, हुश्रा सतन का दास ।
क्या जानूं केते मरता, न मिटती मन की श्रास ॥२९॥
तुका श्रौर मिठाई क्या करूँ, पाले विकार पिड ।
राम कहावे सो भली रूखी, माखन खीर खांड ॥३०॥

इस पूर्वोक्त रचना के सिवा श्रीतुकाराम जी ने कुछ पद भी हिंदी भाषा में लिखे हैं। पर इन के विषय मे सब विद्वानो का एक मत नही है। कुछ-कुछ श्रभग सग्रहो में न मिलने के कारण कुछ विद्वान इन्हे क्षेपक मानते हैं। हिदी की रचना थोड़ी ही होने के कारण इस बात का निर्णय करना कठिन है कि ये तुकाराम जी के ही रचे हुए हैं या अन्य किसी के। पर बहुत सभव यही है कि ये तुकाराम जी के ही होंगे। नमूने के लिए कुछ पद नीचे दिए जाते हैं।

(१)

क्या गाऊ कोई सुननेवाला। देखे तो सब ही जग भूला ॥१॥
खेलौं श्रपने रामहि सात। जैसी वैसी करिहौं मात ॥२॥
काहां से लाऊं मधुरा बानी। रीझे ऐसी लोक बिरानी ॥३॥
गिरिधरलाल तो भाव का भूका। राग कला नहि जानत तुका ॥४॥

(२)

श्रापे तरे त्याकी कोन बराई। श्रौरन कू भलो नाम धराई ॥१॥
काहे भूमि इतना भार राखे। दुहत धेनु नहि दूधहि चाखे ॥२॥

---

[1] व्यर्थ [2] दोहरा नं० १६ देखो। केवल एक शब्द का फ़र्क़ है। [3] लड़के [4] मक्खन का मथा हुश्रा। [5] छाछ।

बरसते मेघ फलते हि बिरखा । कोन काम आपनी उन्होति राखा ॥३॥
काहे चदा सूरज खावे फेरा । खिन एक बैठत पावत घेरा ॥४॥
काहे परिस कचन करे धातु । नहि मोल लूटत पावत घातु ॥५॥
कहे तुका उपकारहि काज । सब कर रहिया रघुराज ॥६॥

(३)

बार-बार काहे मरत अभागी । बहुरि मरन से क्या तोरे भागी ॥१॥
एहि तन कर ते क्या ना होय । भजन भगति करे बैकुंठ जाय ॥२॥
रामनाममोल नहि बेचे कवरी । वोहि सब माया छुरावत सगरी ॥३॥
कहे तुका मन सु मिल राखो । राम रस जिव्हा नित चाखो ॥४॥

इन पूर्वोक्त सब उदाहरणों से तुकाराम जी की हिंदी कविता का अनुमान पाठकगण भलीभाँति कर सकते हैं। यह कहने की आवश्यकता नही कि काव्य-दृष्टि से इस मे देखने योग्य विशेष कुछ नही है। इस से केवल इसी का अनुमान हो सकता है कि सत्रहवी शताब्दी में महाराष्ट्रीय सत हिदी को अपनाने लगे थे। यदि यही क्रम चलता रहता और दूसरी ही एक भाषा का भारतवर्ष की भाषाओं पर आक्रमण न होता, तो आज हिंदुस्तानी अखिल भारतवर्ष की भाषा हो जाती। पर काल के मन में कुछ और ही था। उस के हेर-फेर से थोडे दिन अधिक लगे। पर अब सब विज्ञ भारतवासियों ने इस बात को मान लिया है कि सारा हिंदुस्तान यदि किसी एक भाषा में अपने विचार प्रकट कर सकता है, तो केवल हिंदुस्तानी ही इस बात के योग्य है। ईश्वर की कृपा से वे भी दिन अब जल्दी पास आ रहे हैं और जिस माला का यह एक फूल है, वह भी इसी बात का द्योतक है। यदि किसी प्रात के लोग अपने-अपने प्रातीय विद्वान्, शूर, सत पुरुषो का परिचय भारत भर में कराना चाहे, तो केवल इस हिंदुस्तानी भाषा के द्वारा ही यह बात संभाव्य है, अन्यथा नही।